॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

वर्ष तीसरा
अंक दूसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

ज्येष्ठ
२४७३

सत्श्रुत की आराधना करो

मुमुक्षु जीवों के लिये ज्येष्ठ शुक्ला ५–श्रुतपंचमी का दिन महा मांगलिक दिन है, इसलिये उस दिन भक्ति भाव से श्रुत पूजा करके श्रुतज्ञान की रुचि को बढ़ाकर धर्म की वृद्धि करना चाहिये।

ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन श्री भूतबलि आचार्य ने चतुर्विध संघ के समक्ष श्रुतज्ञान की पूजा की थी, इसलिये वह दिन जैनों में श्रुतपंचमी के नाम से विख्यात है और जैन लोग उस दिन श्रुत की पूजा करते हैं।

ज्येष्ठ सितपक्ष पंचभ्यां चातुर्वर्ण्य संघ समवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणै र्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम्॥१४३॥
श्रुतपंचमीति तेन प्रख्याति तिथिरियं परामाप।
यद्यापि येन तस्य श्रुत पूजां कुर्वते जैनाः॥१४४॥

अर्थ—ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन चतुर्विध संघ सहित उस ग्रंथ को (षट्खंडागम को) उपकरण मानकर क्रिया पूर्वक पूजा की थी, इसलिये वह तिथि श्रुतपंचमी के नाम से भलीभांति प्रसिद्ध हुई और आज भी जैन लोग उस दिन श्रुत की पूजा करते हैं।

श्रुतपंचमी मांगलिक दिन है, उस दिन सत्श्रुत की आराधना करो।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग दर्शक मासिक पत्र २६

छुटक अंक पांच आना

विश्वदर्शन-द्रव्य-गुण-पर्याय

द्रव्य-गुण-पर्याय में समस्त विश्व के पदार्थों का स्वरूप आ जाता है। द्रव्य-गुण-पर्याय जैन दर्शन की इकाई है। सदा एक सी स्थिर रहनेवाली वस्तु को द्रव्य कहते हैं और जो द्रव्य का विशेषण है, सो गुण है। अथवा द्रव्य के संपूर्ण भाग में और उसकी सभी पर्यायों में जो शक्ति विद्यमान है, उसे गुण कहते हैं। द्रव्य-गुण की प्रतिक्षण बदलनेवाली जो दशा है, उसे पर्याय कहते हैं। विश्व की कोई भी वस्तु या तो द्रव्य होगी या गुण होगी या पर्याय होगी। इन तीनों में से कोई एक अवश्य होगी। इन तीन के अतिरिक्त अथवा इन से बाहर इस विश्व में कुछ है ही नहीं; इसलिये द्रव्य-गुण-पर्याय की पहिचान में समस्त विश्व की पहिचान के लिये यहाँ कुछ विशेष कथन किया जाता है।

(१) जीव (आत्मा)—द्रव्य है और वह ज्ञान के द्वारा पहिचाना जाता है।

(२) शरीर—पर्याय है; अनंत पुद्गल परमाणु मिलकर वह पर्याय हुई है।

(३) बुखार (बीमारी)—पर्याय है; पुद्गलद्रव्य के स्पर्श गुण की उष्ण पर्याय है।

(४) सिद्ध—पर्याय है; जीवद्रव्य की संपूर्ण शुद्धपर्याय है।

(५) दया—पर्याय है; जीवद्रव्य के चारित्रगुण की मलिनपर्याय है।

(६) धर्म—पर्याय है; जीवद्रव्य की शुद्धपर्याय है।

(७) पुण्य-पाप—पर्याय है; जीवद्रव्य के चारित्रगुण की मलिनपर्याय है।

(८) दुःख—पर्याय है; जीवद्रव्य के सुखगुण की मलिनपर्याय है।

(९) उपवास—पर्याय है; जीवद्रव्य के चारित्रगुण की शुद्धदशा है। जीवद्रव्य की पहिचान करके उसमें एकाग्रता करना ही निश्चय उपवास है। (अन्न का त्याग होना, जड़द्रव्य की पर्याय है)। आत्मप्रतीति के साथ आहार संबंधी राग का कम होना, शुभराग है, उसे व्यवहार से उपवास कहा जाता है, वह चारित्र की विकारी दशा है।

(१०) भक्ति-पूजा—पर्याय है; जीवद्रव्य के चारित्र-गुण की रागयुक्त मलिनपर्याय है। [शरीर की हलन-चलन आदि क्रिया अथवा शब्द, जड़द्रव्य की पर्याय है।]

(११) दान—पर्याय है; जीवद्रव्य के चारित्रगुण की रागयुक्त मलिन पर्याय है। (रुपये-पैसे का जाना, सो जड़द्रव्य की पर्याय है।)

(१२) कर्म—पर्याय है; पुद्गलद्रव्य की पर्याय है।

(१३) केवलज्ञान—पर्याय है; जीवद्रव्य के ज्ञानगुण की शुद्धपर्याय है।

(१४) मोक्ष—पर्याय है; जीवद्रव्य के सभी गुणों की शुद्धपर्याय है।

(१५) संसार—पर्याय है; जीवद्रव्य के गुणों की अशुद्धपर्याय है।

(१६) चारित्रदशा—पर्याय है; जीवद्रव्य के चारित्रगुण की शुद्धपर्याय है। (चारित्र पर्याय शरीर में नहीं रहती किन्तु आत्मा में रहती है।)

(१७) श्रावक—पर्याय है; जीवद्रव्य की आंशिक शुद्धपर्याय है। जब आत्मा की पहिचान के द्वारा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया जाता है और फिर कितने ही राग को दूर करते हैं, तब श्रावकदशा कहलाती है। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकदशा नहीं होती।

(१८) दौड़ना-बैठना-चलना—पर्याय हैं; पुद्गलद्रव्य में गमन करने की जो शक्ति (गुण) है, उसकी पर्याय है (पुद्गल की पर्याय, जीव में नहीं होती)।

(१९) मिथ्यात्व—पर्याय है; जीवद्रव्य के श्रद्धागुण की विपरीतपर्याय है। यह मिथ्यात्व दशा ही जीव को घोर संसार दुःख का कारण है और महापाप है।

(२०) सम्यक्त्व—पर्याय है; जीवद्रव्य के श्रद्धागुण की सीधी पर्याय है, यह सम्यक्त्व ही जीव को अल्पकाल में मोक्ष का कारण है।

(२१) स्वतंत्रता—पर्याय है; जीव के अपने गुणों का संपूर्ण विकास (शुद्धदशा) स्वतंत्रता है; स्वतंत्रतारूपी पर्याय जीव में होती है, यह स्वतंत्रतारूपदशा सुख है।

(२२) पराधीनता—पर्याय है; जीव के अपने गुणों का विकास पर के लक्ष्य से अटक जाना (अशुद्धदशा), सो पराधीनता है। पराधीनतारूपदशा दुःख है। पराधीनतारूपदशा जीव में होती है।

(२३) ज्ञान—जीवद्रव्य का गुण है।

(२४) रूप-रस-गंध—पुद्गलद्रव्य के गुण हैं।

(२५) जैन—पर्याय है; जीवद्रव्य के श्रद्धा-ज्ञान और चारित्रगुण की शुद्धपर्याय को जैन के रूप में पहिचाना जाता है। जिस जीव के सम्यक् श्रद्धान न हो, वह जैन नहीं है।

(२६) कषाय—पर्याय है; जीवद्रव्य के चारित्रगुण की विकारी पर्याय है।

(२७) विश्व—जड़ और चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय के समूह को विश्व कहते हैं। वह कोई एक विशेष द्रव्य, गुण अथवा पर्याय नहीं है।

तू समझ

''**भाई** तू समझ'' इस एक वाक्य से समस्त जैनशासन की सिद्धि हो जाती है। 'तू समझ' इस वाक्य से निम्न प्रकार सिद्धि हो जाती है।

(१) तू समझ–यह कहने पर कोई समझनेवाला है; यह शरीर तो जड़ है, वह कहीं समझनेवाला नहीं है, किन्तु शरीर से भिन्न कोई तत्त्व है, जिसमें समझने की शक्ति है। समझने की शक्तिवाला जड़ से भिन्न जो तत्त्व है, वह आत्मा है–यह सिद्ध हुआ।

(२) समझनेवाला आत्मा है किन्तु पहले वह समझा नहीं था और अब समझने के लिये तैयार हुआ है, इसलिये उसे समझने के लिये कहा जाता है। अर्थात् अनसमझरूप दशा को बदल कर सच्ची समझरूप दशा हो सकती है और समझनेवाला दोनों समय ध्रुव रहता है। इससे वस्तु का बदलना (उत्पाद–व्यय) सिद्ध हुआ और बदलने पर भी समझनेवाली वस्तु तो वही की वही स्थिर रहती है, इस प्रकार ध्रुव भी सिद्ध हो गया।

(३) आत्मा में यथार्थ को समझने की शक्ति है, इसलिये वह चाहे जब समझ सकता है। 'तू समझ' यह कहा अर्थात् समझने का परिश्रम–पुरुषार्थ स्वयं ही करता है, उसमें किसी अन्य की सहायता नहीं है; इस प्रकार पुरुषार्थ की स्वतंत्रता सिद्ध हो गई।

(४) 'तू समझ' यह कहनेवाला प्रस्तुत जीव के आशय को ध्यान में लेनेवाला स्वयं ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान के द्वारा ही स्वयं समझ सकता है–इस प्रकार ज्ञानस्वरूप निश्चित हुआ।

(५) समझनेवाले तत्त्व का अस्तित्व है अर्थात् समझनेवाले तत्त्व में सदा स्थिर रहने की शक्ति (अस्तित्व गुण) है, यह निश्चित हुआ।

(६) समझनेवाला तत्त्व निज में अपनी समझरूप क्रिया कर सकता है अर्थात् समझनेवाली वस्तु में अपनी प्रयोजनभूत क्रिया करने की शक्ति (वस्तुत्वगुण) है—यह निश्चय हुआ।

(७) जगत् में कुछ जीव समझे हुये हैं और कुछ अनसमझ भी हैं। स्वयं अनसमझ को दूर करके समझ को प्राप्त करता है अर्थात् अन्य जीवों से अपना परिणमन भिन्न है, यानि द्रव्यत्वगुण है यह निश्चय हुआ।

(८) 'तू समझ' यह कहनेवाला जीव समझनेवाले में समझने की शक्ति है, यह जान कर कहता है अर्थात् समझनेवाले तत्त्व में दूसरे के ज्ञान में ज्ञेयरूप शक्ति (प्रमेयत्वगुण) है, यह निश्चित हुआ।

(९) 'तू समझ' यह कहकर अनसमझ को दूर करने को कहा है; अनसमझ क्षणिक है और वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; इसलिये वह दूर हो सकती है और समझ अपना स्वभाव है, इस प्रकार अनसमझ विकार है, उसकी क्षणिकता और आत्मा के स्वभाव की उससे भिन्नता बताई है। इससे आत्मा का परिणमन भी सिद्ध हो गया।

(१०) जीव को दु:ख है। उस दु:ख को दूर करने के लिये ही समझने को कहा है अर्थात् यह निश्चित होता है कि जीव को किसी अन्य वस्तु के कारण दु:ख नहीं है किन्तु अपनी ही अनसमझ के कारण दु:ख है और उस दु:ख को दूर करने में कोई अन्य वस्तु सहायक नहीं होती किन्तु अपनी समझ से ही वह दु:ख दूर हो सकता है।

(११) अनसमझ आत्मा का स्वभाव नहीं है किन्तु विकार है और विकार में परवस्तु का निमित्त है क्योंकि जब चेतन वस्तु अपने लक्ष्य को चूककर अपने से विरुद्ध प्रकार की किसी वस्तु पर लक्ष्य करके वहाँ अटक जाती है, तब उसे समझने को कहा जाता है। यदि जीव अपने में ही लक्ष्य करके स्थिर रहा होता तो उससे यह कहने की आवश्यकता नहीं होती कि 'तू समझ' परन्तु उसका लक्ष्य अचेतन वस्तु पर है और वह वस्तु जड़ है-पुद्गल है; इस प्रकार पुद्गल का अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है। यदि पुद्गल का अस्तित्व न हो तो मात्र चेतन के लक्ष्य से भूल न हो।

(१२) जो समझनेवाली वस्तु है, उसमें संपूर्ण समझ शक्ति होती है और वस्तु में जो शक्ति होती है, वह किसी न किसी के संपूर्णतया अवश्यतया प्रगट होती है अर्थात् जिनने परिपूर्ण समझ शक्ति प्रगट की है, वे सर्वज्ञदेव हैं, यह निश्चय हुआ।

(१३) जो यह कहता है कि तू अपने को समझ; उस कहनेवाले (प्रस्तुत व्यक्ति) ने समझ लिया है किन्तु अभी उसकी पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई क्योंकि यदि उसकी पूर्णदशा प्रगट हुई होती तो तू समझ-यह कहने का विकल्प उसके न होता; इसलिये पूर्ण दशा प्रगट होने से पूर्व भी सच्ची समझ होती है अर्थात् साधक जीव होते हैं, यह सिद्ध हुआ। अर्थात् जो पूर्ण स्वरूप को जानकर पूर्ण दशारूप हो गये हैं, वे देव हैं और जो पूर्ण नहीं हुये परंतु जिनने पूर्ण स्वरूप को जान लिया है और दूसरों को बतलाते हैं, वे गुरु हैं।

(१४) मैंने पूर्ण स्वरूप को नहीं समझा; इसलिये मेरे समझने के लिये ही ज्ञानियों का उपदेश है। ज्ञानियों ने जो शास्त्र रचे हैं, उनमें तू समझ—इस प्रकार स्वरूप को समझने का ही उपदेश है अर्थात् इसमें शास्त्रों के रहस्य का ख्याल आ जाता है।

(१५) 'तू समझ' यह सुनकर सुननेवाले का लक्ष्य अपनी ओर जाता है कि —'मैं समझूं'; किन्तु कहनेवाले जीव पर उसका लक्ष्य नहीं जाता अर्थात् अपनी ओर लक्ष्य करके स्वयं ही अपने आप समझता है। कोई दूसरा उसे समझ करानेवाला नहीं है अर्थात् स्वयं ही अपना कर्ता है। कोई ईश्वर अथवा अन्य आत्मा अपना कर्ता नहीं है, यह निश्चय हुआ।

(१६) 'तू समझ' यह कहनेवाला निमित्त है, यह जाना और तू समझ, यह कहनेवाले जीव के ऊपर का लक्ष्य छोड़कर जब स्वयं अपने आत्मा की ओर लक्ष्य करके उन्मुख हुआ, तभी निज को समझता है, इसलिये यह भी सिद्ध हुआ कि निमित्त के लक्ष्य से समझमें नहीं आता किन्तु उपादान के लक्ष्य से ही समझमें आता है।

(१७) प्रस्तुत कहनेवाले ने 'तू समझ' यह कहा किन्तु किसी की भक्ति-पूजा करने अथवा रुपया, पैसा खर्च करने को नहीं कहा है। इससे यह निश्चय हुआ कि कोई शुभभाव अथवा रुपया-पैसा इत्यादि आत्मा के सुख का उपाय नहीं है किन्तु यथार्थ समझ ही एकमात्र सुख का उपाय है। इसलिये सर्व प्रथम ज्ञानियों ने यथार्थ समझ करने को ही कहा है।

(१८) 'तू समझ' यह कहा है, अर्थात् यदि जीव समझने चाहे तो उसे कोई रोकनेवाला नहीं है। यहाँ यह नहीं कहा कि 'कर्म दूर होंगे तो तेरी समझ में आयेगा' किन्तु यह कहा है कि तू समझने का प्रयत्न कर तो तेरी समझ में अवश्य आयेगा। समझने का पुरुषार्थ करे और समझ में न आये, यह कदापि नहीं हो सकता। कर्म, जीव को पुरुषार्थ करने से नहीं रोकते; इस प्रकार जीव का पुरुषार्थ सिद्ध हुआ।

(१९) 'तू समझ' यह कहा है किन्तु यह नहीं कहा कि 'मैं तुझे समझा दूँगा' इससे सिद्ध है कि समझने को कहनेवाला और समझनेवाला दोनों भिन्न हैं और भिन्न पदार्थ एक-दूसरे में कुछ कर नहीं सकते। (अस्ति-नास्ति) यह भी सिद्ध हुआ।

(२०) समझने का भाव किया अर्थात् अनसमझ का भाव दूर हो गया, यानि आत्मा के ज्ञान और वीतरागभाव की समझ करने पर मिथ्यात्व, अज्ञान, हिंसा, परिग्रह, असत्य, अब्रह्मचर्य इत्यादि विकारी भाव छूट जाते हैं, यह भी निश्चय हो गया।

इस प्रकार '**तू समझ**' इस एक ही वाक्य से जैनदर्शन का रहस्य सिद्ध हो जाता है। यदि जैनदर्शन के एक कथन को भी भलीभाँति समझ ले तो उसे अपने आत्मा की समझ हुए बिना न रहे। यही जैनदर्शन की परिपूर्णता और सर्वज्ञता को सिद्ध करता है। जैनदर्शन, आत्मा के स्वरूप की पूर्णतया पहिचान कराता है; इसलिये 'तू समझ' यह जैन सिद्धांत का मूलभूत आदेश है।

कौन कहता है कि धर्म कष्टदायक है ?

परम सुखी साधक संत मुनि

[परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से]

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से धर्म होता है या कष्ट सहन करने से ? धर्म सेवन करनेवाले को आनंदानुभव होता है या दु:ख का ? यदि परीषह और कष्ट से धर्म हो तो धर्म दु:खदायक सिद्ध होगा, किन्तु हे भाई ! धर्म कदापि दु:खदायक नहीं होता।

अज्ञानी-संयोगबुद्धि जीव यों विचार किया करता है कि "अरे रे ! बिचारे मुनि का कितना त्याग है; इन्हें कितना कष्ट है; यह कितने दु:ख भोगते हैं ? भाई ! धर्म तो बड़ा कठिन है।" किन्तु उसे धर्म के स्वरूप की खबर नहीं है। संयोग कष्टदायक प्रतीत हो तो उसमें आर्तध्यान होता है; आर्तध्यान को भगवान ने पाप कहा है; उसमें धर्म ते क्या किन्तु शुभभाव भी नहीं है। आर्तध्यान तो मात्र अशुभभाव है। बहुत से उपवास और बहुत कुछ त्याग करके मैंने अधिक कष्ट सहन किया, इसलिये मुझे अधिक धर्म लाभ हुआ; यों माननेवाले के धर्म तो दूर रहा किन्तु पुण्य भी नहीं होता, उसके अशुभभाव है; वह पापी है। यदि बाह्य में आहार का संयोग न हुआ तो उससे आत्मा को क्या ?

धर्म तो आत्मा की शुद्धक्रिया है। आत्मा की चेतनक्रिया-ज्ञानक्रिया और समझक्रिया ही धर्म है। धर्म तो आत्मा को एकांतरूप में सुखदायक ही है; धर्म में उकताहट नहीं, कष्ट नहीं, क्लेश नहीं, अशांति नहीं, दु:ख नहीं, द्वेष नहीं किन्तु धर्म में आत्मा का उत्साह, शांति, सुख, अनाकुलता, समता भाव है। जिसमें आत्मा की सुख-शांतिरूप क्रिया नहीं है, वह धर्म ही नहीं है।

धर्म के सुख-शांति का माप संयोग से नहीं किन्तु स्वभाव से होता है। कौन कह सकता है कि सिंह के द्वारा खाये जाते हुये सुकुमाल मुनि दु:खी थे ? नहीं, नहीं। सिंह से खाये जाते मुनि दु:खी नहीं थे, किन्तु उनका आत्मा परम सुखी था, वे तो आत्मा के चैतन्य की प्रेरणा का अमृतपान कर रहे थे। आत्मा का सुखानुभव करने में वे ऐसे लीन थे कि शरीर पर लक्ष्य ही नहीं था। वे अनंत सिद्धों की पंक्ति में बैठकर आत्मा के आनंदामृत का उपभोग कर रहे हैं। जड़ शरीर के परमाणु बदल जाते हैं, इससे चैतन्य आत्मा को क्या है ? और परमाणुओं को भी क्या है ? शरीर और आत्मा का परिणमन भिन्न-भिन्न है। परमाणु अपने कारण से बदलते हैं, परमाणु के सुख-दु:ख नहीं होता

और भगवंत मुनि का आत्मा जब स्वरूप की लीनता में परिणमित हो रहा हो, तब उसे दु:खी कैसे कहा जा सकता है ? वह तो सुखरूप धर्म का अनुभव कर रहा है।

अज्ञानी जीव, संयोग के कारण धर्मात्मा को दु:खी मानता है किन्तु धर्मात्मा के किसी भी संयोग का दु:ख नहीं होता। क्या सिंह द्वारा काटे जाने का दु:ख है ? काटने का अर्थ क्या है ? काटना द्रव्य है, गुण है, या पर्याय है ? काटना निमित्त की, संयोग की भाषा है; उसका अर्थ यह है कि सिंह क्रूर भाव करता है, वह अपने मुँह की हलन-चलनरूप क्रिया करता है और मुनि के शरीर के परमाणुओं में परिवर्तन होता है। 'काटना' शब्द इतनी बातों को बतलाता है किन्तु वह यह नहीं बतलाता कि उस समय मुनि के आत्मा की क्या क्रिया होती है। जब कि शरीर, शरीर के कारण से परिणमित हो रहा है, तब धर्मात्मा संत मुनि का आत्मा अपनी चैतन्य क्रिया के द्वारा शरीर से और विकार से भिन्न रहकर आनंद का अनुभव करता है।

ऐसे परम सुखी संत मुनि के आत्मा से अज्ञात अज्ञानी जीव उन्हें दु:खी मानते हैं। आश्चर्य ! वे यह सोचते हैं कि हमें ऐसी दशा कदापि प्राप्त न हो, उन्हें यह खबर नहीं होती कि मैंने क्या भावना की ? भाई ! विचार तो कर कि तूने किस दशा से इनकार किया है ? तूने आत्मस्वरूप का उत्कृष्ट साधक दशा से इनकार किया है कि मुझे मुनि जैसी दशा प्राप्त न हो अर्थात् स्वरूप की एकाग्रता का निर्विकल्प धर्मध्यान मुझे न हो, यानि आत्मा का परम सुख प्राप्त न हो, यह है अज्ञानी की भावना। अज्ञानी का अर्थ है-आत्मज्ञान से रहित; संयोगबुद्धि, जड़बुद्धि और जड़ पर से आत्मा के सुख का माप करनेवाला।

जब मुनि के शरीर को सिंह खा जाता है, तब अज्ञानी जीव, संयोग को लेकर ऐसी भावना करता है कि अरे रे ! ऐसी दशा न हो। उसकी मान्यता में अनेक दोष हैं।

(१) अज्ञानी ने मुनि की शांति को दु:ख मान लिया, यह उसकी पहली भूल है।

(२) मुझे यह दशा प्राप्त न हो, अर्थात् मुनिदशा प्राप्त न हो—ऐसी भावना की सो दूसरी भूल है।

(३) कोई संयोग सुख-दु:ख का साधन नहीं है किन्तु परिणाम सुख-दु:ख का साधन है, उसकी जगह संयोग से दु:ख माना, सो तीसरी भूल है। इस प्रकार अज्ञानी की दृष्टि भूल से भरी हुई है।

इसी समय सिंह के द्वारा खाये जाते हुये मुनि को देखकर ज्ञानी यह चिंतवन करता है कि 'अरे, भगवंत मुनि के ऐसा न हो।' ज्ञानी के इस चिंतवन का क्या अभिप्राय है, सो विचार करें।

ज्ञानी के जो शुभवृत्ति उद्‌भूत हुई, वह मुनि के लिये नहीं किन्तु स्वयं साधकपन की भावना है, इसलिये अपना ज्ञान की ओर ढ़लता हुआ भाव और इसीलिये वृत्ति उद्‌भूत हो उठती है कि —

संत मुनि को साधकदशा में ऐसा न हो। यहाँ पर संयोग की बात नहीं है किन्तु वास्तव में साधकदशा में बाधक वृत्ति ही न हो, ऐसी भावना है किन्तु शुभराग होने से निमित्त से ऐसा कथन आता है कि ऐसी बाधक दशा के निमित्त ही साधक के न आयें। इसमें बाधक वृत्ति को तोड़कर अप्रतिहत ज्ञानधारा की भावना की गई है। भले ही वर्तमान विचार में शुभराग है किन्तु उस राग को भी बाधक मानकर उसे तोड़ना चाहता है। ज्ञानस्वभाव में स्थिर रहने की भावना है और उस भावना के बल से ज्ञान में साधकरूप में स्थिर रहकर बाधक वृत्ति को तोड़ डालता है और यही परीषहजय है। परीषह की ओर के राग-द्वेष भाव को तोड़कर स्वभाव में एकाग्र होना ही परीषहजय है किन्तु परीषह को प्रतिकूल मानकर द्वेष करे अथवा संयोग को अनुकूल मानकर राग करे तो वह स्वयं स्वरूप से हटकर परीषह में विजित हो गया है; उसने परीषहजय नहीं किया।

स्वरूप-लीन साधक संत मुनियों को परीषह का किंचित्‌मात्र भी दुःख नहीं होता, वे तो परम सुखी होते हैं।

वंदन हो उन साधक संत मुनियों को!

जय अरिहंत

जो वास्तव में अरिहंत को जानता है, वह अपने आत्मा को अवश्य जानता है

[प्रवचनसार की ८० वीं गाथा पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

आचार्यदेव कहते हैं कि —मैं शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिये कटिबद्ध हुआ हूँ; जैसे पहलवान (योद्धा) करम बांधकर लड़ने के लिये तैयार होता है, उसी प्रकार मैं अपने पुरुषार्थ के बल से मोह मल्ल का नाश करने के लिये कमर कसकर तैयार हुआ हूँ।

मोक्षाभिलाषी जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा मोह के नाश करने का उपाय विचारता है। भगवान के उपदेश में पुरुषार्थ करने का कथन है। भगवान पुरुषार्थ के द्वारा मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं और भगवान ने जो उपाय किया, वही उपाय बताया है। यदि जीव वह उपाय करे तो ही उसे मुक्ति हो, अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा सत्य उपाय करने से ही मुक्ति होती है, अपने आप नहीं होती।

यदि कोई कहे कि ''केवली भगवान ने जो सब कुछ जान लिया है कि कौन सा जीव कब मुक्त होगा और कौन जीव मुक्त नहीं होगा; तो फिर भगवान पुरुषार्थ करने की क्यों कहते हैं ?'' तो ऐसा कहनेवाले की बात मिथ्या है। भगवान ने तो पुरुषार्थ का ही उपदेश दिया है, भगवान के केवलज्ञान का निर्णय भी पुरुषार्थ के द्वारा ही होता है। जो जीव, भगवान के कहे हुये मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ करता है, उसे अन्य सर्व साधन स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। अब ८०-८१-८२ इन तीन गाथाओं में बहुत सरस बात आती है। जैसे माता अपने इकलौते पुत्र को हृदय का हार कहती है; उसी प्रकार यह तीनों गाथायें हृदय का हार हैं। यह मोक्ष की माला के गुंफित मोती हैं; यह तीन गाथाएँ तो तीन रत्न (श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र) के सदृश हैं। उनमें पहली गाथा ८० वीं गाथा में मोह के क्षय करने का उपाय बतलाते हैं—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥

अर्थ : जो अरहंत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से, और पर्यायरूप से जानता है, वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है।

इस गाथा में मोह की सेना को जीतने के पुरुषार्थ का विचार करते हैं। जहाँ मोह के जीतने का पुरुषार्थ किया वहाँ—अरहंतादि निमित्त उपस्थित होते ही हैं। जहाँ उपादान जागृत हुआ, वहाँ निमित्त तो होता ही है। काल आदि निमित्त तो सर्व जीव के सदा उपस्थित रहते हैं। जीव स्वयं जिस प्रकार का पुरुषार्थ करता है, उसमें काल को निमित्त कहा जाता है। जब यदि कोई जीव शुभभाव करके स्वर्ग में जाय तो उस जीव के लिये वह काल, स्वर्ग का निमित्त कहलाता है। यदि दूसरा जीव उसी समय पाप करके नरक में जाय तो उसके लिये उसी काल को नरक का निमित्त कहा जाता है, और कोई जीव उसी समय स्वरूप समझकर स्थिरता करके मोक्ष प्राप्त करे तो उस जीव के लिये वही काल, मोक्ष का निमित्त कहलाता है। निमित्त तो हमेशा विद्यमान है, किन्तु जब स्वयं अपने पुरुषार्थ के द्वारा अरहंत के स्वरूप का और अपने आत्मा का निर्णय करता है, तब क्षायिक सम्यक्त्व अवश्य प्रगट होता है और मोह का नाश होता है।

जिसने अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जाना है, वह जीव अल्पकाल में मुक्ति का पात्र हुआ है। अरहंत भगवान आत्मा हैं, उनमें अनंत गुण हैं और उनकी केवलज्ञानादि पर्याय है, उसके निर्णय में आत्मा के अनंतगुण और पूर्ण पर्याय की सामर्थ्य का निर्णय आ जाता है।

उस निर्णय के बल से अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसमें संदेह को कहीं स्थान नहीं है। यहाँ इस गाथा में क्षायिक सम्यक्त्व की ध्वनि है।

''जो अरहंत को द्रव्यरूप में, गुणरूप में और पर्यायरूप में जानता है वह'' इस कथन में जाननेवाले के ज्ञान की महत्ता समाविष्ट है। अरहंत को जाननेवाले ज्ञान में मोह-क्षय का उपाय समाविष्ट कर दिया है। जिस ज्ञान ने अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को अपने निर्णय में समाविष्ट किया है, उस ज्ञान ने भगवान से कम का और विकार का अपने में अभाव स्वीकार किया है अर्थात् द्रव्य से, गुण से और पर्याय से परिपूर्णता का सद्भाव निर्णय में प्राप्त किया है। 'जो जानता है' इस में जाननेवाली तो वर्तमान पर्याय है। निर्णय करनेवाले ने अपनी ज्ञानपर्याय में पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय का अस्तिरूप में निर्णय किया है और विकार का निषेध किया है—ऐसा निर्णय करनेवाले की पूर्ण पर्याय किसी पर के कारण से कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि उसने अरहंत के समान अपने पूर्ण स्वभाव का निर्णय कर लिया है। जिसने पूर्ण स्वभाव का निर्णय कर लिया है, उसने क्षेत्र, कर्म अथवा काल के कारण मेरी पर्याय रुक जायगी, ऐसी पुरुषार्थ हीनता की बात तो उड़ा दिया है। द्रव्य-गुण-पर्याय से पूर्ण स्वभाव का निर्णय कर लेने के बाद पूर्ण पुरुषार्थ करना ही शेष रह जाता है; कहीं भी रुकने की बात नहीं रहती।

यह मोह-क्षय के उपाय की बात है। जिसने अपने ज्ञान में अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना है, उसके ज्ञान में केवलज्ञान का हार गुंफित होगा—उसकी पर्याय केवलज्ञान की ओर की ही होगी।

जिसने अपनी पर्याय में अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना है, उसने अपने आत्मा को ही जान लिया है, उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है, यह कितनी खूबी के साथ बात कही है। वर्तमान में इस क्षेत्र में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं है, तथापि 'मोहक्षय को प्राप्त होता है' यह कहने में अंतरंग का इतना बल है कि जिसने इस बात का निर्णय किया, उसे वर्तमान में भले ही क्षायिक सम्यक्त्व न हो, तथापि उसका सम्यक्त्व इतना प्रबल और अप्रतिहत है कि उसमें क्षायिकदशा प्राप्त होने तक बीच में कोई भंग नहीं पड़ सकता। सर्वज्ञ भगवान का आश्रय लेकर भगवान कुंदकुंदाचार्य देव कहते हैं कि जो जीव, द्रव्य-गुण-पर्याय के द्वारा अरहंत के स्वरूप का निर्णय करता है, वह अपने आत्मा को ही वैसा जानता है और वह जीव क्षायिक सम्यक्त्व के ही मार्ग पर आरूढ़ है; हम अपूर्ण अथवा ढीली बात नहीं करते।

पंचमकाल के मुनिराज ने यह बात कही है और पंचमकाल के जीवों के लिये मोहक्षय का उपाय इसमें बताया है। सभी जीवों के लिये एक ही उपाय है। पंचमकाल के जीवों के लिये कोई पृथक् उपाय नहीं है। जीव तो सभी काल में परिपूर्ण ही है, तब फिर उसे कौन रोक सकता है? कोई नहीं रोकता। भरतक्षेत्र अथवा पंचमकाल कोई भी जीव को पुरुषार्थ करने से नहीं रोकता। कौन कहता है कि पंचमकाल में भरतक्षेत्र से मुक्ति नहीं है। आज भी यदि कोई महाविदेहक्षेत्र में से ध्यानस्थ मुनि को उठाकर यहाँ भरतक्षेत्र में रख जाय तो पंचमकाल और भरतक्षेत्र के होने पर भी, वह मुनि, पुरुषार्थ के द्वारा क्षपकश्रेणी को माँडकर केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष किसी काल अथवा क्षेत्र के द्वारा नहीं रुकता। पंचमकाल में भरतक्षेत्र में जन्मा हुआ जीव उस भव से मोक्ष को प्राप्त नहीं होता, इसका कारण काल अथवा क्षेत्र नहीं है; किन्तु वह जीव स्वयं ही अपनी योग्यता के कारण मंद पुरुषार्थी हैं। इसलिये बाह्य निमित्त भी वैसे ही प्राप्त होते हैं। यदि जीव स्वयं तीव्र पुरुषार्थ करके मोक्ष के प्राप्त करने के लिये तैयार हो जाय तो उसे बाह्य में भी क्षेत्र इत्यादि अनुकूल निमित्त प्राप्त हो ही जाते हैं अर्थात् काल अथवा क्षेत्र की ओर देखने की आवश्यकता नहीं रहती किन्तु पुरुषार्थ की ओर ही देखना होता है। पुरुषार्थ के अनुसार धर्म होता है। काल अथवा क्षेत्र के अनुसार धर्म नहीं होता।

जो अरहंत को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है अर्थात् जैसे द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप अरहंत हैं, उसी स्वरूप मैं हूँ। अरहंत के जितने द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उतने ही द्रव्य-गुण-पर्याय मेरे हैं। अरहंत की पर्याय शक्ति परिपूर्ण है तो मेरी पर्याय की शक्ति भी परिपूर्ण ही है। वर्तमान में उस शक्ति को रोकनेवाला जो विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार जो जानता है, उसका मोह 'खलु जादि लयं' अर्थात् निश्चय से क्षय को प्राप्त होता है, यही मोहक्षय का उपाय है।

.....टीका.....

''जो वास्तव में अरहंत को द्रव्यरूप में, गुणरूप में और पर्यायरूप में जानता है, वह वास्तव में आत्मा को जानता है क्योंकि दोनों में निश्चय से कोई अंतर नहीं है'' यहाँ पर वास्तव में जानने की बात कही है। मात्र धारणा के रूप में अरहंत को जानने की बात यहाँ नहीं ली गई हैं क्योंकि वह तो शुभराग है। वह जगत की लौकिक विद्या के समान है, उसमें आत्मा की विद्या नहीं है। वास्तव में जाना हुआ तो तब कहलायगा जब कि अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को मिलाकर देखे कि जैसा अरहंत का स्वभाव है, वैसा ही मेरा

स्वभाव है। यदि ऐसे निर्णय के साथ जाने तो वास्तव में जाना हुआ कहलायगा। इस प्रकार जो वास्तव में अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप से जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है और उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

अरहंत भगवान को जानने में सम्यग्दर्शन आ जाता है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि ''णादं जिणेण णियदं.....'' यहाँ यह आशय है कि जिनेन्द्रदेव ने जो जाना है, उसमें कोई अंतर नहीं आ सकता, इतना जानने पर अरहंत के केवलज्ञान का निर्णय अपने में आ गया। वह यथार्थ निर्णय सम्यग्दर्शन का कारण होता है। सर्वज्ञदेव ने जैसा जाना है, वैसा ही होता है, इस निर्णय में जिनेन्द्रदेव के और अपने केवलज्ञान की शक्ति की प्रतीति अंतर्हित है। अरिहंत के समान ही अपना परिपूर्ण स्वभाव ख्याल में आ गया है; अब मात्र पुरुषार्थ के द्वारा उसरूप परिणमन करना ही शेष रह गया है।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने पूर्ण स्वभाव की भावना करता हुआ अरहंत के पूर्ण स्वभाव का विचार करता है कि जिस जीव को, जिस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से जैसा होना श्री अरहंतदेव ने अपने ज्ञान में जाना है, वैसा ही होगा; उसमें किंचित्मात्र भी फर्क नहीं होगा-ऐसा निर्णय करनेवाले जीव ने मात्र ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया कि वह अभिप्राय से संपूर्ण ज्ञाता हो गया; उसमें केवलज्ञान सन्मुख का अनंत पुरुषार्थ आ गया।

केवलज्ञानी अरहंतप्रभु का जैसा भाव है, वैसा अपने ज्ञान में जो जीव जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है; क्योंकि अरहंत के और इस आत्मा के स्वभाव में निश्चयतः कोई अंतर नहीं है। अरहंत के स्वभाव को जाननेवाला जीव अपने वैसे स्वभाव की रुचि से यह यथार्थतया निश्चय करता है कि वह स्वयं भी अरहंत के समान ही है। अरहंतदेव का लक्ष्य करने में जो शुभराग है, उसकी यह बात नहीं है। किन्तु जिस ज्ञान ने अरहंत का यथार्थ निर्णय किया है, उस ज्ञान की बात है। निर्णय करनेवाला ज्ञान अपने स्वभाव का भी निर्णय करता है और उसका मोह क्षय को अवश्य प्राप्त होता है।

प्रवचनसार के दूसरे अध्याय की ६५ वीं गाथा में कहा है कि—''जो अरहंत को, सिद्ध को तथा साधु को जानता है और जिसे जीवों पर अनुकंपा है, उसके शुभरागरूप परिणाम हैं'' इस गाथा में अरहंत के जाननेवाले के शुभराग कहा है। यहाँ मात्र विकल्प से जानने की अपेक्षा से बात है, यह जो बात है सो शुभ विकल्प की बात है। जबकि यहाँ तो ज्ञानस्वभाव के निश्चययुक्त की बात है।

अरहंत के स्वरूप को विकल्प के द्वारा जाने किन्तु मात्र ज्ञानस्वभाव का निश्चय न हो तो वह प्रयोजनभूत नहीं है और ज्ञानस्वभाव के निश्चय से युक्त अरहंत की ओर का विकल्प भी राग है, वह राग की शक्ति नहीं किन्तु जिसने निश्चय किया है, उस ज्ञान की ही अनंत शक्ति है और वह ज्ञान ही मोहक्षय करता है। उस निर्णय करनेवाले ज्ञान ने केवलज्ञान की परिपूर्ण शक्ति को अपनी पर्याय की स्व-परप्रकाशक शक्ति में समाविष्ट कर लिया है। मेरे ज्ञान की पर्याय इतनी शक्ति संपन्न है कि निमित्त की सहायता के बिना और पर के लक्ष्य के बिना तथा विकल्प के बिना केवलज्ञानी अरहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय को अपने में समा लेती है-निर्णय में ले लेती है।

वाह! पंचमकाल के मुनि ने केवलज्ञान के भावामृत को प्रवाहित किया है। पंचमकाल में अमृत की प्रबल धारा बहा दी है। स्वयं केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी है, इसलिये आचार्य भगवान भाव का मंथन करते हैं। वे केवलज्ञान के ओर की पुरुषार्थ की भावना के बल से कहते हैं कि मेरी पर्याय से शुद्धोपयोग के कार्यरूप में केवलज्ञान ही आंदोलित हो रहा है। बीच में जो शुभ विकल्प आता है, उस विकल्प की श्रेणी को तोड़कर शुद्धोपयोग की अखंड हारमाला को ही अंगीकार करता हूँ। केवलज्ञान का निश्चय करने की शक्ति विकल्प में नहीं किन्तु स्वभाव की ओर के ज्ञान में है।

अरहंत भगवान आत्मा हैं। अरहंत भगवान के द्रव्य, गुण, पर्याय और इस आत्मा के द्रव्य, गुण, पर्याय में निश्चय से कोई अंतर नहीं है और द्रव्य, गुण, पर्याय से अरहंत का स्वरूप स्पष्ट है-परिपूर्ण है; इसलिये जो जीव द्रव्य, गुण, पर्याय से अरहंत को जानता है, वह जीव आत्मा को ही जानता है और आत्मा को जानने पर उसका दर्शनमोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है।

यदि देव, गुरु के स्वरूप को यथार्थतया जाने तो जीव के मिथ्यात्व कदापि न रहे। इस सम्बन्ध में मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि मिथ्यादृष्टि जीव, जीव के विशेषणों को यथावत् जानकर बाह्य विशेषणों से अरहंतदेव के माहात्म्य को मात्र आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा भी मानता है। यदि कोई जीव के (अरहंत के) यथावत् विशेषणों को जान ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे। (मोक्षमार्गप्रकाशक)

इसी प्रकार गुरु के स्वरूप के सम्बन्ध में कहते हैं—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग ही मुनि का यथार्थ लक्षण है, उसे नहीं पहचानता। यदि उसे पहचान ले तो वह मिथ्यादृष्टि कदापि न रहे। (मोक्षमार्गप्रकाशक)

इसी प्रकार शास्त्र के स्वरूप के सम्बन्ध में कहते हैं—यहाँ तो अनेकांतरूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण है तथा सच्चा रत्नत्रय मोक्षमार्ग बताया है। इसलिये यह जैन शास्त्रों की उत्कृष्टता है, जिसे यह नहीं जानता। यदि उसे पहचान ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे। (मोक्षमार्गप्रकाशक)

तीनों में एक ही बात कही है कि यदि उसे पहचान ले तो मिथ्यादृष्टि न रहे। इसमें जो पहचानने की बात की है, वह यथार्थ निर्णयपूर्वक जानने की बात है। यदि देव, गुरु, शास्त्र को यथार्थतया पहचान ले तो उसे अपने आत्मा की पहचान अवश्य हो जाय और उसका दर्शनमोह निश्चय से क्षय हो जाय।

यहाँ 'जो द्रव्य, गुण, पर्याय से अरहंतदेव को जानता है उसे....' ऐसा कहा है किन्तु सिद्ध को जानने को क्यों नहीं कहा? इसका कारण यह है कि यहाँ शुद्धोपयोग का अधिकार चल रहा है। शुद्धोपयोग से पहले अरहंत पद प्रगट होता है, इसलिये यहाँ अरहंत को जानने की बात कही गई है। और फिर जानने में निमित्तरूप सिद्ध नहीं होते किन्तु अरहंत निमित्तरूप होते हैं तथा पुरुषार्थ की जागृति से अरहंत दशा के प्रगट हो जाने पर अघातियां कर्मों को दूर करने के लिये पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् प्रयत्न से केवलज्ञान-अरहंतदशा प्राप्त की जाती है, इसलिये यहाँ अरहंत की बात कही है। वास्तव में तो अरहंत का स्वरूप जान लेने पर समस्त सिद्धों का स्वरूप भी उसमें आ ही जाता है।

अरहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय की भाँति ही अपने आत्मा के स्वरूप को जानकर शुद्धोपयोग की हारमाला के द्वारा जीव, अरहंतपद को प्राप्त होता है। जो अरहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूप को जानता है, उसका मोह नाश को अवश्य प्राप्त होता है। यहाँ 'जो जाणदि' अर्थात् 'जो जानता है' - ऐसा कहकर ज्ञान का पुरुषार्थ सिद्ध किया है। जो ज्ञान के द्वारा जानता है, उसका मोह क्षय हो जाता है किन्तु जो ज्ञान के द्वारा नहीं जानता, उसका मोह नष्ट नहीं होता।

यहाँ यह कहा है कि जो अरहंत को द्रव्य से, गुण से, पर्याय से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय हो जाता है।

अरहंत को द्रव्य, गुण, पर्याय से कैसे जानना चाहिये और मोह क्यों कर नष्ट होता है—यह आगे चल कर कहा जायेगा। (प्रवनसार, गाथा ८० की टीका)

पूज्य श्री कानजीस्वामी की वाणी

भेद विज्ञान

प्रश्न—ज्ञानीजन बारंबार यों समझाते हैं कि आत्मा समस्त वस्तुओं से भिन्न है, इसलिये वह पर का कुछ नहीं कर सकता। किन्तु दो वस्तु पृथक् है; इस प्रकार समझाने से क्या लाभ ?

उत्तर—मैं समस्त पदार्थों से भिन्न हूँ और मैं पर का कुछ कर नहीं सकता अर्थात् मुझ में पर जीवों को सुखी-दुःखी करने की शक्ति कदापि नहीं है; इसलिये परजीव को सुखी-दुःखी करने का जो शुभभाव है, वह मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप तो जानने का ही है (ज्ञानस्वरूप ही है)। इस प्रकार दो पदार्थों के भिन्नत्व की प्रतीति होने पर सबसे पहले अभिप्राय में से समस्त पर का और राग का कर्तृत्व छूट जाता है और इसलिये पहले राग को ही निजरूप मानकर आकुलता का अनुभव करता था और इसलिये दुःखी होता था, उसके बदले अब अपने को ज्ञातारूप मानकर शुद्धरूप अनुभव करता है, इसलिये आकुलता रहित सुख है। दो पदार्थों के पृथक् जानने का ही यह फल है।

परपदार्थों को निज से भिन्न जाना अर्थात् उस ओर के लक्ष्य से जो लागणी (भावना) होती है, उसे भी परमार्थ से निज से भिन्न माना, यानि बंध भाव और स्वभाव के बीच में जो भेद किया, सो वह भेदज्ञान हुआ। स्व का और पर का कुछ संबंध नहीं है—ऐसा निश्चय करने पर, पर की ओर झुकनेवाली कोई वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार जानकर अब पर से और विकारी वृत्ति से भिन्न ऐसे अपने स्वभाव में लक्ष्य करके स्थिरता ही करनी रही और यही मुक्ति का उपाय है। स्व को और पर पदार्थों को भिन्न जाने बिना अपना कल्याण अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकता, इसलिये स्व-पर के भेदविज्ञान का निरंतर अभ्यास करना आवश्यक है।

प्रश्न—परवस्तु से और विकारीभाव से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव की प्रतीति के द्वारा सम्यग्दर्शन होने के बाद क्या करना चाहिये ?

उत्तर—चैतन्यस्वभाव का ग्रहण करना चाहिये और विकारीभाव को बंधन जानकर उसका त्याग करना चाहिये। बीच में परलक्ष से जो भी व्यवहार, विकल्प आये, उसे बंधन जानकर छोड़ देना चाहिये और ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करनी चाहिये। इसी उपाय से मोक्ष होता है।

ग्रहण-त्याग

प्रश्न—यह बात ठीक है कि आत्मा के स्वभाव में दूसरे पदार्थों के कुछ करने की शक्ति

नहीं है परंतु जब आत्मा विकार करता है, तब तो अन्य पदार्थों के करने की शक्ति आती है न ?

उत्तर—नहीं; स्वभाव से या विभाव से किसी भी तरह आत्मा, परपदार्थ का कर ही नहीं सकता। समयसार में कहा है कि—

ण वि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परद्दव्वं।
सो को वि य तस्स गुणा पाउगिओ विस्ससो वा वि॥४०६॥

अर्थ : जो परद्रव्य है, वह न तो ग्रहण किया जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है, ऐसा ही आत्मा का प्रायोगिक और वैस्रसिक गुण है।

टीका : ज्ञान, परद्रव्य को जरा भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है, क्योंकि प्रायोगिक (अर्थात् पर निमित्त से हुये) गुण की सामर्थ्य से (विकार से) तथा वैस्रसिक (अर्थात् स्वाभाविक) गुण की सामर्थ्य से ज्ञान के द्वारा परद्रव्य का ग्रहण करना तथा छोड़ना अशक्य है।

भावार्थ : आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्य को तो ग्रहण ही नहीं करता–स्वभावरूप परिणाम या विभावरूप परिणाम, अपने ही परिणाम के ग्रहण–त्याग हैं, परद्रव्यों का ग्रहण व त्याग थोड़ा सा भी नहीं है।

आत्मा में किसी भी तरह परवस्तु को लेने और छोड़ने की शक्ति ही नहीं है, विकार करने से भी आत्मा में वह शक्ति नहीं आती, प्रत्युत ज्ञान शक्ति हत हो जाती है। यदि स्वयं विकार करे तो अपनी दशा में अशुद्धता का ग्रहण हो किंतु उस में परद्रव्य का क्या है ? परद्रव्य तो स्वतंत्र है।

प्रश्न—विकार करने से आत्मा कर्मों को तो खींचता है न ?

उत्तर—नहीं, आत्मा विकार करने से कर्मों को नहीं खींचता (ग्रहण नहीं करता); स्वतंत्ररूप से परमाणु की दशा उसरूप होती है। 'आत्मा ने कर्म बाँधे' यह निमित्त का कथन है, उपचारमात्र है। वास्तव में अपनी पर्याय को ही ग्रहण करता है–छोड़ता है; परवस्तु को जरा भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है।

मंद कषाय आत्मा के कल्याण का साधन नहीं है

प्रश्न—शुभभाव से आत्मा को लाभ क्यों नहीं होता ? जब आत्मा शुभभाव करता है, तब कषाय मंद पड़ जाती है और मंद कषाय के होने से आत्मा स्वभाव में विघ्न कम होता है, इसलिये शुभराग के द्वारा आत्मा को लाभ होगा या नहीं ?

उत्तर—नहीं, नहीं। शुभराग के द्वारा आत्मा को लाभ नहीं होता। जिसके आत्मा के शुद्ध

स्वभाव का लक्ष्य नहीं है, उसका लक्ष्य राग पर है और इसीलिये उसके अभिप्राय का जोर कषाय पर ही रहता है। कषाय के ही अभिप्रायपूर्वक अशुभराग छोड़कर शुभराग किया है, उस शुभराग में वर्तमानमात्र के लिये जितना अशुभराग कम हुआ, उतना वीर्य अवश्य है—परंतु मंद कषाय से लाभ होता है—ऐसे अभिप्रायपूर्वक की गई मंद कषाय किंचित्मात्र भी आत्मा के लाभ का कारण नहीं है। कषाय को लाभ का साधन मानने से अज्ञानी जीव पूर्ण स्वभाव को विपरीतरूप मानकर मिथ्यात्वरूपी महा हानि की वृद्धि करता है। मंद कषाय को अकषाय स्वभाव का साधन मानना ही अनंत कषाय है और यही आत्मस्वभाव को महा विघ्न करके अनंत संसार में परिभ्रमण करानेवाला है।

पर की अपेक्षा से कषाय मंद हुई है; इसलिये बाह्य के संयोग में फर्क पड़ेगा परंतु स्व की अपेक्षा से जो कषाय ज्यों का त्यों है। जिसने मंद कषाय से लाभ माना है, उसे अपने स्वभाव पर संपूर्ण कषाय है। अपने कषायरहित स्वभाव की प्रतीति के बिना अधिक शुभराग करके मंद कषाय करके यदि नवमें ग्रैवेयक में भी जाय तो भी उसके स्वभाव का अंशमात्र भी साधन नहीं है। यथार्थ ज्ञान करने पर तत्क्षण ही अनंत कषाय दूर हो जाती है और यही स्वभाव का साधन है।

जब अज्ञानी अधिक शुभराग करता है तो भी वह उस समय अनंत कषायी है क्योंकि राग के द्वारा लाभ मानकर वह अपने स्वभाव को प्रतिक्षण नष्ट कर रहा है।

यदि ज्ञानी के अशुभराग हो तो भी वह अल्प कषायी है क्योंकि वह कषाय को अपना स्वरूप नहीं मानता, इसलिये वे कषायरहित अपने स्वरूप की हिंसा नहीं करते। अतः सिद्ध होात है कि—

शुभराग, स्वभाव का साधन नहीं है किन्तु रागरहित अपने आत्मा की यथार्थ समझ ही स्वभाव का साधन है और ज्ञान ही कषाय दूर करने का उपाय है।

यथार्थ समझ

सबसे पहले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता छोड़कर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान करना चाहिये, ऐसा करने से तीव्र मिथ्यात्व दूर हो जाता है; सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने से मिथ्यात्व की मंदता होती है किन्तु अभाव नहीं होता; तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने से अशुभभाव दूर होकर शुभभाव बढ़ता है, परंतु यह तो बंधभाव में अंतर हो गया। अशुभ और शुभ दोनों बंधभाव ही हैं, एक प्रकार का बंधभाव को बदलवाकर दूसरे तरह के बंधभाव में आया परंतु

आत्म-प्रतीति के बिना बंधभाव से छूटकर मुक्तिमार्ग में प्रवेश नहीं होता। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का लक्ष्य उस अशुभ बंध को रोक सकता है किन्तु शुभ बंध को नहीं रोक सकता। और कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र की मान्यता को अशुभ बंध को भी रोकने के लिये समर्थ नहीं है। अबंध आत्मस्वभाव की प्रतीति के द्वारा अशुभबंध और शुभबंध दोनों को रोक सकता है—दूर कर सकता है।

प्रश्न—अशुभ तो बंधन है ही और शुभ भी बंधन ही है तो फिर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का लक्ष्य करके शुभ राग क्यों करना चाहिये ?

उत्तर—भाई! शुभराग भी करने योग्य तो है ही नहीं। यदि तुझे शुभाशुभभावरहित आत्मस्वभाव की पहिचान हो और स्वभाव में स्थिर रहने का पुरुषार्थ हो तो उसी क्षण शुभ को भी छोड़कर शुद्धात्म-उपयोग में स्थिर होना योग्य है। शुभ-अशुभरागरहित स्वभाव की पहिचान हो किन्तु यदि उसमें स्थिरता के द्वारा शुद्धोपयोग न हो सकता हो तो ज्ञानी को भी अशुभभाव से बचने के लिये शुभराग आते हैं किन्तु वह बंधन ही है, इससे भी आत्मा के किंचित् धर्म नहीं होता; इस प्रकार पहले समझना चाहिये।

ज्ञानीजन यों समझाते हैं कि 'पुण्य से धर्म नहीं होता' परंतु तुरंत ही पुण्य छोड़ देने को नहीं कहते। निम्न दशा में पुण्यभाव होता तो है किन्तु उससे धर्म नहीं होता यों समझना चाहिये। 'पुण्य से धर्म नहीं होता' यों मानने से पुण्य कम नहीं हो जाता किन्तु सत् के लक्ष्य से उच्च प्रकार का पुण्य बंध जाता है। जो पुण्य से धर्म मानता है, उसके उच्च पुण्य का बंध नहीं होता किन्तु जो पुण्य से धर्म नहीं मानता उसके ही उच्च पुण्य (तीर्थंकरपद, चक्रवर्तीपद, इन्द्रपदादि) बँधते हैं।

और फिर ज्ञानी यों समझाते हैं कि आत्मा, शरीरादि की क्रिया नहीं कर सकता, इस प्रकार समझने से शरीर की क्रिया रुक नहीं जाती; शरीर की क्रिया तो शरीर के कारण से हुआ ही करती है परन्तु जीव पहले जिस शरीर की क्रिया का मिथ्या अभिमान करता था, वह अब 'मैं शरीर की क्रिया नहीं कर सकता किन्तु वह तो शरीर के कारण से स्वयं होती है'—ऐसा समझकर ज्ञाता ही रहता है, और इसीलिये उसके अनंत राग-द्वेष दूर होकर शांति होती है।

निश्चय साधन और व्यवहार साधन

प्रश्न—ज्ञानी पुरुष यों बारम्बार बतलाते हैं कि ज्ञान करने से ही धर्म होता है, सच्चा ज्ञान ही धर्म का उपाय है, परन्तु यह तो निश्चय की बात कही, व्यवहार से कौन सा उपाय है ?

उत्तर—भाई! निश्चय और व्यवहार कहीं बाह्य में, जड़ की क्रिया में अथवा राग में नहीं है

परन्तु यथार्थ ज्ञान में निश्चय और व्यवहार दोनों गर्भित हो जाते हैं। अपने शुद्धात्मा को जानकर स्व की ओर ढ़लनेवाला जो ज्ञान है, सो निश्चय और राग-विकार इत्यादि को बंधभाव के रूप में जाननेवाला तथा परवस्तु को भिन्नरूप जाननेवाला जो ज्ञान है, सो व्यवहार है। जहाँ स्वभाव के ज्ञानरूप में निश्चय हो, वहाँ पर के ज्ञानरूप में व्यवहार होता ही है। स्वभाव को जाननेवाले ज्ञान के साथ विकल्प नहीं है; इसलिये उस ज्ञान को निश्चय साधन कहा जाता है और पर को तथा पुण्य-पाप को जाननेवाले ज्ञान के साथ विकल्प है, इसलिये उस ज्ञान को व्यवहार साधन कहा जाता है परन्तु ज्ञान तो दोनों में सच्चा ही है।

जहाँ राग-विकल्प को व्यवहार साधन कहा हो, वहाँ ऐसा मतलब समझना चाहिये कि उस राग-विकल्प का ज्ञान करना, सो व्यवहार साधन है, और राग-विकल्प स्वयं तो बन्ध साधन ही है।

मेरे स्वभाव में अपूर्ण दशा या विकार नहीं है; इस प्रकार परिपूर्ण स्वभाव को जो ज्ञान लक्ष्य में लेता है, वह ज्ञान निश्चय है और जो परिपूर्ण स्वभाव की प्रतीति होने पर भी, पर्याय में अपूर्णता और विकार है, उसे लक्ष्य में लेता है, वह ज्ञान व्यवहार है। निश्चय और व्यवहार दोनों के ज्ञान को एकत्रित करना, सो प्रमाण है।

निश्चय और व्यवहार का एकमेक करने का अर्थ यह है कि जो निश्चय स्वभाव है, वही मेरा स्वरूप है और अपूर्णतारूप व्यवहार है तो अवश्य किन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं है-इस प्रकार जानना, सो प्रमाण है।

स्व को जानना, सो निश्चय और पर को (तथा परलक्ष से होनेवाले भावों को) जानना, सो व्यवहार है; उन में से निश्चय ज्ञान में जो ज्ञात हुआ, वह मैं हूँ और व्यवहार ज्ञान में जो ज्ञात हुआ है, वह मैं नहीं हूँ-ऐसा समझना, सो प्रमाण है।

शुभ विकल्प इत्यादि निमित्त के रूप में बीच में होते तो हैं परन्तु वे यथार्थ साधन नहीं है किन्तु बन्धन हैं, इसलिये हेय हैं और निश्चय स्वभाव ही उपादेय है-इस प्रकार जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है परन्तु यदि निश्चय और व्यवहार दोनों के विषय को सदृश माने तो वह ज्ञान प्रमाण नहीं है किन्तु मिथ्या है।

विकल्प-राग को हेय कहकर वास्तव में व्यवहार को ही हेय कहा है। व्यवहार तो यथार्थ ज्ञान का पहलू है, तथापि उसे हेय क्यों बताया? इसका कारण यह है कि यह व्यवहार ज्ञान का

लक्ष्य पर के ऊपर है और पर के लक्ष्य से राग होता है, इसलिये पर का लक्ष्य करनेवाला ज्ञान हेय है। पर के लक्ष्य से विकल्प आये बिना नहीं रहते और विकल्प से बन्धन ही होता है, इसलिये व्यवहार छोड़ने योग्य ही है; और निश्चयज्ञान मात्र स्वभाव को ही लक्ष्य में लेता है, इस कारण से स्वलक्ष्य से विकल्प नहीं होता और इसलिये बन्धन भी नहीं होता, इसलिये निश्चय उपादेय है। निश्चय ज्ञान शुद्ध चैतन्य का ही ग्रहण करके समस्त अशुद्ध भावों को छोड़ देता है, अतएव यही मुक्ति का निश्चय साधन है और व्यवहारज्ञान का लक्ष्य पर के ऊपर होने पर भी वह ज्ञान यथार्थ है, इसलिये उसे व्यवहार साधन कहा जाता है। स्वभाव की ओर एकाग्र होनेवाला ज्ञान ही परमार्थ से मुक्ति का कारण है। जो पर को जाननेवाला ज्ञान है, सो व्यवहार से मोक्ष का कारण है। जिस ज्ञान ने भिन्न स्वरूप को जानने का कार्य किया, वही ज्ञान भिन्न स्वरूप स्थिरता का कार्य करता है। इस प्रकार निश्चय साधन और व्यवहार साधन दोनों ज्ञान में ही गर्भित हो जाते हैं, परन्तु यह बात नहीं कि निश्चय साधन आत्मा में और व्यवहार साधन पर में हो; ज्ञान से ही मोक्ष होता है, ज्ञान का पुरुषार्थ करना ही जिज्ञासुओं का कर्तव्य है।

ज्ञान गोष्टि

(१) **प्रश्न**—जीव और द्रव्य में क्या अंतर है ?

उत्तर—जीव कहने से अकेला जीव द्रव्य ख्याल में आता है और द्रव्य कहने से छहों द्रव्य ख्याल में आते हैं।

(२) **प्रश्न**—मोक्ष सुख कहाँ होता है ? यहाँ वह भोगा जा सकता है या नहीं ?

उत्तर—मोक्ष सुख आत्मा की शुद्ध पर्याय में होता है और आत्मा में यह भोगा जा सकता है; मोक्ष सुख का संबंध बाहर के क्षेत्र के साथ नहीं है।

(३) **प्रश्न**—प्रतिजीवी गुण और अनुजीवी गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर—वस्तु का जो गुण अन्य के अभाव की अपेक्षा रखते हैं उसे (अर्थात् अभाव स्वरूप गुण को) प्रतिजीवी गुण कहते हैं और जो गुण दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता उसे अर्थात् भाव स्वरूप गुण को अनुजीवी गुण कहते हैं।

(४) **प्रश्न**—एकेन्द्रिय और निगोद में क्या अंतर है ? आप को दोनों में से कौन सा अच्छा लगता है ?

: ज्ञान गोष्टि :

वीर संवत् २४७१ के वैशाख मास में गर्मी की छुट्टियों के दिनों में श्री जैन स्वाध्याय मंदिर की ओर से सोनगढ़ में जैनदर्शन शिक्षणवर्ग एक मास तक रखने में आया था। उस वर्ग में आये हुये विद्यार्थियों ने आपस में किये हुये एक दिन का प्रश्नोत्तर यहाँ पर दिया जाता है। ऐसा शिक्षण वर्ग प्रत्येक साल रखा जाता है।

उत्तर—निगोद के समस्त जीवों को एकेन्द्रिय कहा जाता है किन्तु समस्त एकेन्द्रिय को निगोद नहीं कहा जाता। इन दो में से कोई भी अच्छा नहीं है।

(५) **प्रश्न**—छह द्रव्यों में से खंड द्रव्य कितने हैं ?

उत्तर—छहों द्रव्य अपने स्वरूप से अखंड हैं और पर से भिन्न हैं। परमाणु के स्कंध को खंडरूप कह सकते हैं क्योंकि उस स्कन्ध में से परमाणु अलग हो जाते हैं।

(६) **प्रश्न**—रूपी, अरूपी, मूर्तिक और अमूर्तिक में से जीव के कौन-कौन से विशेषण लागू होते हैं ?

उत्तर—जीव अरूपी और अमूर्तिक है। जड़ पदार्थ का रूप जीव में नहीं है, इसलिये अरूपी कहा जाता है परन्तु अपने ज्ञान आदि की अपेक्षा से तो वह स्वरूपी है। जीव में अपना रूप है, ज्ञान, दर्शन आदि का स्वरूप है।

(७) **प्रश्न**—बाह्य क्रिया और आभ्यन्तर क्रिया का क्या अर्थ है ?

उत्तर—वास्तव में ज्ञान की जो शुद्ध पर्याय है, सो आत्मा की आभ्यन्तर क्रिया है और राग बाह्य क्रिया है, और उपचार से राग आभ्यन्तर क्रिया है तथा शरीरादि की क्रिया बाह्य क्रिया है।

(८) **प्रश्न**—चैतन्य की क्रिया किस में होती है और किस में नहीं होती ?

उत्तर—चैतन्य की क्रिया चैतन्य में होती है, जड़ में नहीं होती।

(९) **प्रश्न**—धर्मद्रव्य का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जो द्रव्य गति करते हुये जीव और पुद्गल के गमन में उदासीन निमित्त है, उसे धर्म द्रव्य कहा है।

(१०) **प्रश्न**—जल मछली के गमन करने में सहायक (निमित्त) होात है तो जल धर्मद्रव्य है या नहीं ?

उत्तर—जल धर्मद्रव्य नहीं है क्योंकि जल तो रूपी पदार्थ है, और रूपित्व पुद्गल का गुण है, इसलिये जल, पुद्गल की दशा है।

(११) **प्रश्न**—पुद्गलद्रव्य किस गुण के द्वारा जानता है और किस गुण के द्वारा जाना जाता है ?

उत्तर—पुद्गलद्रव्य जड़ है, इसलिये उसमें जानने की शक्ति नहीं है; जीव के ज्ञान में वह अपने प्रमेयत्वगुण के द्वारा जाना जाता है।

(१२) **प्रश्न**—अगुरुलघुत्व गुण हम लोगों के प्रगट है या नहीं ?

उत्तर—अगुरुलघुत्व गुण दो तरह का होता है-एक अनुजीवी और दूसरा प्रतिजीवी; इनमें से अनुजीवी अगुरुलघुत्व गुण जो सामान्य होने से सभी के प्रगट है किन्तु प्रतिजीवी अगुरुलघुत्व गुण जीवद्रव्य का विशेष गुण है, यह गुण अभी हम लोगों के प्रगट नहीं है, यह गुण सिद्धदशा में प्रगट होता है।

(१३) **प्रश्न**—जीव के साता और असाता के उदय के अभाव से कौन-सा गुण प्रगट होता है ?

उत्तर—अव्याबाध गुण प्रगट होता है।

(१४) **प्रश्न**— सिद्ध के साता होती है या नहीं ?

उत्तर—सिद्ध के साता और असाता में से एक भी नहीं होती।

(१५) **प्रश्न**—यदि सिद्ध के कर्म का उदय आये तो वे अवतार लेते हैं या नहीं ?

उत्तर—सिद्ध के कभी भी कर्म का उदय नहीं आता और न उनके कभी भी अवतार होता है, वे तो जन्म-मरण से रहित हो गये हैं।

(१६) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शन पुण्य है या गुण है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन पुण्य नहीं किन्तु धर्म है और वह गुण नहीं किन्तु श्रद्धागुण की पर्याय है।

(१७) **प्रश्न**—जब आत्मा को मोक्ष हो जाता है, तब उसका आकार कैसा होता है ?

उत्तर—लगभग अंतिम शरीर जैसा (उस शरीर से कुछ कम) आकार होता है।

(१८) **प्रश्न**—जगत में द्रव्य कितने हैं ? उनमें सब से बड़ा कौन है, महात्तावान कौन है और छोटा कौन है ?

उत्तर—जगत में छह द्रव्य हैं, आकाशद्रव्य सबसे बड़ा है, जीवद्रव्य सबसे महत्तावाला है क्योंकि यही समस्त द्रव्यों को जाननेवाला है और पुद्गल परमाणु तथा कालाणु सबसे छोटे हैं।

(१९) **प्रश्न**—कम वजनवाला स्पर्श अनुजीवी गुण है या प्रतिजीवी गुण ?

उत्तर—कम वजन स्पर्श गुण नहीं किन्तु पर्याय है। वह पुद्गलद्रव्य के स्पर्श नाम के अनुजीवी गुण की पर्याय है।

(२०) **प्रश्न**—सूक्ष्मत्व किसे कहते हैं ? क्या यह ठीक है कि सूक्ष्मत्व आत्मा का अनुजीवी गुण है ?

उत्तर—इंद्रियों के विषयरूप स्थूलता के अभाव को सूक्ष्मत्व कहते हैं; सूक्ष्मत्व आत्मा का अनुजीवीगुण नहीं किन्तु प्रतिजीवी गुण है।

(२१) **प्रश्न**—कालद्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो वस्तुओं के परिणमन में निमित्त हो, उसे कालद्रव्य कहते हैं। समय, मिनिट, घंटा इत्यादि उसकी पर्याय है।

(२२) **प्रश्न**—चंद्रोदय हुआ, सूर्य अस्त हुआ, इसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को घटित कीजिये ?

उत्तर—चंद्र और सूर्य दोनों पृथक्-पृथक् वस्तु हैं, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक ही वस्तु में होते हैं, दो पृथक् पदार्थों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटित नहीं हो सकते।

(२३) **प्रश्न**—जीवद्रव्य में दो अगुरुलघुत्व गुण हैं, वे सामान्य हैं या विशेष ? और अनुजीवी हैं या प्रतिजीवी ?

उत्तर—जीवद्रव्य में एक अगुरुलघुत्व गुण सामान्य और एक विशेष है; उनमें से जो सामान्य है, वह अनुजीवी है और जो विशेष है, वह प्रतिजीवी है।

(२४) **प्रश्न**—यदि धर्मास्तिकाय यहाँ से जिनमन्दिर तक जाय तो उसमें उसका कौन सा द्रव्य निमित्त होता है ?

उत्तर—धर्मास्तिकाय स्थिर द्रव्य है, वह गति करता ही नहीं।

(२५) **प्रश्न**—निगोद को स्थावर जीव कह सकते हैं या नहीं ? और स्थावर जीव को निगोद कह सकते हैं या नहीं ?

उत्तर—निगोद को स्थावर जीव कह सकते हैं किन्तु समस्त स्थावर को निगोद नहीं कह सकते। निगोद के अतिरिक्त अन्य स्थावर भी हैं।

(२६) **प्रश्न**—अस्तिकाय कितने हैं और कितने नहीं हैं ?

उत्तर—कालद्रव्य के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं; कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है, एक पुद्गल परमाणु भी अस्तिकाय नहीं है किन्तु उसमें स्कंधरूप होने की शक्ति होने से वह अस्तिकाय में गिना जाता है।

(२७) प्रश्न—अस्तिकाय द्रव्य है, गुण है अथवा पर्याय है ?

उत्तर—अस्तिकाय अनेक प्रदेशवाला द्रव्य है। जो द्रव्य अनेक प्रदेशी (बहुप्रदेशी) हो, उसे अस्तिकाय कहते हैं।

(२८) प्रश्न—वेदनीयकर्म के नाश से कौन-सा गुण प्रगट होता है ? वह अनुजीवी है या प्रतिजीवी ?

उत्तर—अव्याबाध गुण प्रगट होता है और वह प्रतिजीवी गुण है।

(२९) प्रश्न—अभव्यत्व अनुजीवीगुण है या प्रतिजीवी ?

उत्तर—अभव्यत्व अनुजीवीगुण हैं क्योंकि वह किसी पर के अभाव की अपेक्षा नहीं रखता।

(३०) प्रश्न—मिथ्यादृष्टि मुनि के अधिक पाप होता है या युद्ध करते हुये सम्यग्दृष्टि चक्रवती के ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि मुनि के प्रतिक्षण मिथ्यात्व का अनंत पाप लगता है और सम्यग्दृष्टि के लड़ाई के समय भी वह अनंत पाप तो दूर हो ही गया है, इसलिये उन दोनों में से मिथ्यादृष्टि मुनि के ही अधिक पाप है। मिथ्यादृष्टि के यथार्थ मुनित्व नहीं होता।

(३१) प्रश्न—जीव अरूपी है और धर्म-अधर्म-आकाश-कालद्रव्य भी अरूपी हैं, फिर भी उन्हें जीव क्यों नहीं कहा जाता ?

उत्तर—यह ठीक है कि जीव अरूपी है परंतु जीव का लक्षण अरूपित्व नहीं; जीव का लक्षण तो चेतना है, अन्य चारों अरूपी द्रव्यों में चेतना नहीं है, इसलिये वे जीव नहीं हैं।

(३२) प्रश्न—जब कागज में अक्षर लिखे गये, तब कागज में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हुआ या नहीं ? और यदि हुआ तो किस तरह ?

उत्तर—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तो सभी वस्तुओं में होता ही है। जब कागज में अक्षर लिखे तब उसमें लिखने रूप दशा की उत्पत्ति हुई, कोरी दशा का व्यय हुआ और कागज ध्रुवरूप स्थिर रहा है, इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं।

(३३) **प्रश्न**—छह द्रव्य के लक्षण क्या हैं ? छहों द्रव्यों के लक्षण भिन्न क्यों हैं ?

उत्तर—जीव का लक्षण चेतना है; पुद्गल का लक्षण वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, रूप है; गमन करने में निमित्त होना धर्मास्तिकाय का लक्षण है; ठहरने में निमित्त अधर्मास्तिकाय का लक्षण; सभी द्रव्यों को अवकाश (स्थान) देना आकाश का लक्षण है और परिणमन में निमित्त होना सो कालद्रव्य का लक्षण है। छहों द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं, इसलिये उनके लक्षण भी पृथक् हैं। भिन्न-भिन्न वस्तुओं का लक्षण भिन्न-भिन्न ही होता है।

(३४) **प्रश्न**—कालद्रव्य की संख्या कितनी है ? और किस तरह रहता है ? तथा काल द्रव्य के कितने भेद हैं ?

उत्तर—लोकाकाश के जितने असंख्य प्रदेश हैं, उतने कालद्रव्य हैं और एक लोकाकाश के प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य स्थित है। कालद्रव्य के दो भेद हैं (१) निश्चय काल (२) व्यवहार काल। कालद्रव्य के अणुओं को निश्चयकाल कहते हैं और मिनिट, घंटा, दिन इत्यादि कालद्रव्य की पर्यायों का स्थूल भेदों को व्यवहार काल कहते हैं।

(३५) **प्रश्न**—अस्तित्वगुण में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं या नहीं ?

उत्तर—होते हैं; नवीन पर्याय के अस्तित्व का उत्पाद, पुरानी पर्याय के अस्तित्व का व्यय और अस्तित्वगुण का लगातार ध्रुवरूप में स्थिर रहना; इस प्रकार अस्तित्वगुण में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं।

(३६) **प्रश्न**—यदि कोई आप को मोक्ष के दो मार्ग बताये, एक हवाई जहाज का और दूसरा रेलवे का ? तो आप उनमें से कौन सा मार्ग पसंद करेंगे ?

उत्तर—मोक्ष का यथार्थ मार्ग एक ही प्रकार है और वह आत्मा में ही है। मोक्ष का मार्ग बाहर की किसी वस्तु में हवाई जहाज में या ट्रेन में कहीं भी नहीं है। जो बाहर के किसी साधन से मोक्षमार्ग बतलाता है, वह अज्ञानी है।

मोक्ष किसी बाहर के क्षेत्र में नहीं है, इसलिये मोक्ष के लिये बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं है। मोक्ष तो आत्मा में ही होता है और इसलिये आत्मा की यथार्थ प्रतीति ही मोक्ष का मार्ग है।

(३७) **प्रश्न**—परमाणु के समूह को स्कंध कहा जाता है तो फिर स्कंध के समूह को क्या कहेंगे ?

उत्तर—स्कंध के समूह को स्कंध भी कहा जाता है।

(३८) **प्रश्न**—छह द्रव्यों में से अरूपी कितने और जड़ कितने हैं ? अरूपी और जड़ में क्या अंतर है ? और वह अंतर कहाँ होता है ?

उत्तर—छह द्रव्यों में पुद्गलद्रव्य के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अरूपी हैं और जीवद्रव्य के सिवाय अन्य पाँच द्रव्य जड़ हैं। जिसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श न हों, वह अरूपी है और जिसमें ज्ञान न हो, वह जड़ है। जीवद्रव्य अरूपी है किन्तु जड़ नहीं है; पुद्गलद्रव्य जड़ है किन्तु अरूपी नहीं है, शेष चारों द्रव्य जड़ और अरूपी हैं।

(३९) **प्रश्न**—अरहंत भगवान के कितने प्रतिजीवी गुण प्रगट हुये होते हैं ? और वे क्यों ?

उत्तर—अरहंत भगवान के एक भी प्रतिजीवी गुण प्रगट नहीं होता क्योंकि उनके चार अघातिया कर्मों का सद्भाव है; प्रतिजीवी गुण तो संपूर्ण कर्मों के नाश से प्रगट होता है।

(४०) **प्रश्न**—ज्ञान और चेतना में क्या अंतर है ?

उत्तर—ज्ञान, चेतना का एक भाग (भेद) है; चेतना के दो भेद हैं–एक दर्शन दूसरा ज्ञान।

(४१) **प्रश्न**—अस्तित्व और ध्रौव्य में क्या फर्क है ?

उत्तर—अस्तित्व में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों आ जाते हैं, किन्तु ध्रौव्य कहने पर उसमें उत्पाद, व्यय नहीं आते।

(४२) **प्रश्न**—स्वभाव का नाश होता या नहीं ? और क्यों ?

उत्तर—वस्तु का जो स्वभाव है, उसका कभी नाश नहीं होता; यदि स्वभाव का नाश हो तो वस्तु का ही नाश हो जाय, क्योंकि वस्तु और उसका स्वभाव पृथक् नहीं है। जैसे ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। यदि ज्ञान का नाश हो जाय तो आत्मा का ही नाश हो जाय क्योंकि ज्ञान और आत्मा पृथक् नहीं है।

(४३) **प्रश्न**—कार्माणवर्गणा और कार्माणशरीर में क्या फर्क है ?

उत्तर—कार्माणवर्गणा के जो परमाणु हैं, वे अभी कर्मरूप नहीं हुए किन्तु उनमें कर्मरूप होने की योग्यता है। और जो परमाणु कर्मरूप शरीराकार से परिणमे हैं, उन कर्मों के समूह को कार्माणशरीर कहा जाता है।

(४४) **प्रश्न**—अरहंत के कौन से कर्म शेष हैं और वे क्यों ?

उत्तर—अरहंत के वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघाति कर्म शेष हैं; क्योंकि अभी उनके योग का कंपन होता है।

(४५) **प्रश्न**—केवलज्ञान पहले होता है या केवलदर्शन ? और वह क्यों ?

उत्तर—केवलज्ञान और केवलदर्शन एक ही साथ (एक ही समय) होते हैं, क्योंकि पूर्ण दशा में उपयोग का क्रम नहीं होता।

(४६) **प्रश्न**—जब धर्मद्रव्य चलता है, तब उसे कौन निमित्त होता है ?

उत्तर—धर्मद्रव्य स्वभाव से ही स्थिर है, वह कभी चलता ही नहीं है।

(४७) **प्रश्न**—धर्मद्रव्य कितने द्रव्यों के स्थिर होने में निमित्त होता है ?

उत्तर—धर्मद्रव्य स्थिर होने में निमित्त नहीं होता, किन्तु जब जीव और पुद्गल गमन करते हैं, तब उस में धर्मद्रव्य निमित्त कहा जाता है।

(४८) **प्रश्न**—संसारी जीवों के कितने तरह के शरीर होते हैं ?

उत्तर—संसारी जीवों में औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्माण ये कुल पाँच प्रकार के शरीर होते हैं।

(४९) **प्रश्न**—उपरोक्त पाँच शरीरों में से कम से कम कितने शरीर हो सकते हैं ? और किस जीव के ?

उत्तर—एक भव से दूसरे भव में गमन करनेवाले जीव के बहुत ही थोड़े समय के लिये सिर्फ तैजस और कार्माण ये दो ही शरीर होते हैं।

(५०) **प्रश्न**—'काला रंग' अनुजीवी गुण है या प्रतिजीवी गुण ?

उत्तर—काला रंग गुण नहीं है किन्तु गुण की पर्याय है। पुद्गलद्रव्य में रंग नाम के गुण की काली अवस्था है, उसे काला रंग कहा जाता है।

(५१) **प्रश्न**—द्रव्यत्वगुण में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किस प्रकार हैं ?

उत्तर—द्रव्य में नवीन अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था का नाश होता है और वस्तुत्व कायम बना रहता है - इसप्रकार द्रव्यत्वगुण में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं। जैसे जीवद्रव्य में सिद्धदशा की उत्पत्ति, संसारदशा का नाश और द्रव्यत्वगुण की स्थिरता होती है। यह द्रव्यत्वगुण का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है।

(५२) **प्रश्न**—क्या यह बात ठीक है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता ? और क्यों ?

उत्तर—हाँ, यह बात ठीक है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में अगुरुलघुत्व नामक शक्ति विद्यमान है, इसलिये कोई एक पदार्थ अन्य पदार्थरूप

में परिणमित नहीं होता। और फिर वस्तु में अस्ति-नास्ति धर्म है, प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप से है और पर के स्वरूप से नहीं है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न स्वतंत्र है, इसलिये कोई एक दूसरे का कुछ भी नहीं कर सकती।

और प्रत्येक वस्तु में द्रव्यत्व नामक शक्ति है, इस शक्ति से प्रत्येक वस्तु का कार्य स्वयं अपने आप हुआ करता है, इसलिये भी एक वस्तु दूसरे का कुछ नहीं कर सकती।

(५३) **प्रश्न**—अवधिज्ञानी जीव के पहले केवलदर्शन होता है या नहीं ? और क्यों ?

उत्तर—उस जीव के अवधिज्ञान से पहले अवधिदर्शन होता है किन्तु केवलदर्शन नहीं होता, क्योंकि अवधिज्ञानी जीव के केवलदर्शन नहीं हो सकता; केवलदर्शन तो केवलज्ञान के साथ ही होता है।

(५४) **प्रश्न**—क्या यह बात ठीक है कि समस्त जीवों के दर्शन पूर्वक ही ज्ञान (अर्थात् पहले दर्शन और फिर ज्ञान) होता है ?

उत्तर—नहीं, समस्त जीवों के लिये ऐसा नहीं है। अपूर्णज्ञानवाले जीव के दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है परन्तु जिसके पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) प्रगट हो गया हो उस के तो दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ ही होते हैं।

(५५) **प्रश्न**—'मुनि महाराज ध्यानस्थ बिराजमान हैं' इस प्रसंग को लेकर छहों द्रव्य की क्रिया का कुछ वर्णन कीजिये ?

उत्तर—(१) ध्यानस्थ मुनिराज का आत्मा उस समय परम आनंद में लीन है अर्थात् उनके शुद्धज्ञान की क्रिया हो रही है (२) जड़ शरीर के परमाणुओं की क्रिया उस समय स्थिर रहने योग्य है (३) अधर्मास्तिकाय द्रव्य जीव और परमाणुओं के स्थिर रहने में निमित्तरूप है (४) कालद्रव्य परिणमन में निमित्त है; (५) आकाशद्रव्य स्थान देने में निमित्त और (६) धर्मास्तिकाय द्रव्य की वहाँ उपस्थिति है, किन्तु उसे स्थिति में निमित्त नहीं कहा जा सकता।

(५६) **प्रश्न**—ध्यान के समय आत्मा में किस किस तरह की पर्याय होती है।

उत्तर—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय दोनों होती हैं।

(५७) **प्रश्न**—क्या अरूपी पदार्थ के आकार होता है ?

उत्तर—हाँ, प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक पदार्थ का आकार होता ही है और उसे व्यंजन पर्याय कहा जाता है।

(५८) **प्रश्न**—धर्म-अधर्म-आकाश और काल इन चार द्रव्यों के स्वभावव्यंजनपर्याय होती है या विभावव्यंजनपर्याय ?

उत्तर—इन चार द्रव्यों के सदा स्वभावव्यंजनपर्याय ही होती है; इन की पर्याय में कभी विकार नहीं होता, संसारीजीव और परमाणुओं के ही विभावव्यंजनपर्याय होती है।

(५९) **प्रश्न**—अगुरुलघुत्वगुण प्रतिजीवी है या अनुजीवी ?

उत्तर—अगुरुलघुत्वगुण दो प्रकार का है; उसमें जो सामान्य अगुरुलघुत्वगुण है, वह अनुजीवी है और जो विशेष अगुरुलघुगुण है, वह प्रतिजीवी है।

(६०) **प्रश्न**—दोनो अगुरुलघुगुण में अभाव सूचक 'अ' आता है, तथापि उन दोनों में भेद क्यों ?

उत्तर—सामान्य अगुरुलघुगुण तो समस्त वस्तुओं में त्रिकाल रहता है; वह गुण किसी दूसरे के अभाव की अपेक्षा नहीं रखता, इसलिये वह अनुजीवी है और विशेष अगुरुलघुगुण तो गोत्र कर्म के अभाव होने पर सिद्धदशा में प्रगट होता है—कर्म के अभाव की अपेक्षा रखनेवाला होने से वह प्रतिजीवी गुण है।

अभाव सूचक 'अ' आता है, इसलिये उस गुण को प्रतिजीवी गुण कहना चाहिये-ऐसी उसकी व्याख्या नहीं है, किन्तु जो किसी दूसरे पदार्थ की अभाव अपेक्षा रखता है, वह गुण प्रतिजीवी है।

(६१) **प्रश्न**—मन ज्ञान करने में रुकावट पैदा करता है अथवा सहायता पहुँचाता है ?

उत्तर—मन तो जड़ है, यह ज्ञान से पृथक् है, इसलिये वह ज्ञान करने में न तो सहायता करता है और न रुकावट ही पैदा करता है। जब ज्ञान, परपदार्थ को जानता है, तब मन निमित्तरूप उपस्थितमात्र होता है और जब ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को ही जानता है, तब तो मन निमित्तरूप भी नहीं होता।

(६२) **प्रश्न**—जब आत्मा देह छोड़कर चला गया, तब यहाँ से छह द्रव्यों में से कितने द्रव्य चले गये ?

उत्तर—एक तो जीव चला गया और उसके साथ कार्माण और तैजस शरीर के रजकण चले गये; अर्थात् जीव और पुद्गलद्रव्य चले गये। जीव और पुद्गलद्रव्य के सिवाय चारों द्रव्य तो सदा स्थिर हैं। उनमें कभी क्षेत्रांतर नहीं होता।

(६३) **प्रश्न**—क्या यह व्याख्या ठीक है कि शरीर को छोड़कर जीव के प्रदेशों को बाहर फैलने को समुद्घात कहते हैं ?

उत्तर—नहीं, यह व्याख्या ठीक नहीं है। यदि शरीर को छोड़कर आत्म प्रदेश बाहर निकल जायं तो वह मरण कहलायगा। समुद्घात में तो मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मप्रदेश बाहर फैलते हैं।

(६४) प्रश्न—राग-द्वेष आत्मा का है या जड़ का ?

उत्तर—राग-द्वेष भाव आत्मा की पर्याय में होता है, इस अपेक्षा से तो वह आत्मा का है; परंतु राग-द्वेष भाव आत्मा का स्वरूप नहीं है-इसलिये आत्मा के शुद्धस्वरूप की अपेक्षा से उसे जड़ का भी कहा जाता है।

(६५) प्रश्न—इंद्रियों के अतिरिक्त जीव हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—हाँ, सिद्धदशा में अनंत जीव हैं, उनके इंद्रिय अथवा शरीर नहीं है तथा जब जीव एक गति में से दूसरी गति में गमन (विग्रह गति) करता है, तब भी उस के इंद्रिय या स्थूल शरीर-नहीं होता; और वास्तव में तो सभी जीव, इन्द्रिय और शरीर रहित ही हैं; इन्द्रिय और शरीर तो जड़ हैं; ज्ञानस्वरूप आत्मा नहीं है, वह तो भिन्न ही है। व्यवहार से जीव को पहचानने के लिये एकेन्द्रिय इत्यादि नाम दिये गये हैं।

(६६) प्रश्न—जड़ और पुद्गल में क्या अंतर है ?

उत्तर—जड़ का लक्षण अचेतन रूप है, इसलिये 'जड़' कहने पर उसमें जीव के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों का समावेश हो जाता है और पुद्गल का लक्षण रुपित्व है, इसलिये पुद्गल कहने पर सिर्फ पुद्गलद्रव्य लक्ष्य में आता है; जड़ तो रूपी भी होता है और अरूपी भी होता है किन्तु पुद्गल तो रूपी ही होता है।

(६७) प्रश्न—सच्चे देव का संक्षिप्त स्वरूप क्या है ?

उत्तर—सर्वज्ञता; जहाँ सर्वज्ञता होती है, वहाँ वीतरागता अवश्य होती है।

(६८) प्रश्न—अरहंतदेव और स्वर्ग के देवों में क्या अंतर है ?

उत्तर—अरहंतदेव पूज्य हैं, वे पूर्ण ज्ञानी हैं, विकार रहित हैं, जीवन मुक्त हैं, भवरहित हैं। किन्तु स्वर्ग के देव तो अपूर्ण ज्ञानवाले हैं, विकार सहित हैं, संसारी जीव हैं, भवसहित हैं। अरहंतभगवान के देवत्व, गुण के कारण से है, इसलिये वे पूज्य हैं और स्वर्ग का देवत्व तो पुण्य के विकार का फल है, इसलिये वह देवपद पूज्य नहीं है।

(६९) प्रश्न—कुगुरु-कुदेव की भक्ति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—कुगुरु-कुदेव की भक्ति करने से जीव को कोई भी लाभ नहीं होता किन्तु महा

अज्ञान के कारण मिथ्यात्व को पुष्ट करके अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

(७०) प्रश्न—अगृहीत मिथ्यात्व का फल क्या है और गृहीत मिथ्यात्व का फल क्या है ?

उत्तर—दोनों का फल संसार ही है; अगृहीत मिथ्यात्व अनादि से चला आया है, गृहीत मिथ्यात्व नवीन ग्रहण किया है और वह गृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत मिथ्यात्व को पुष्ट करता है।

(७१) प्रश्न—मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के बीच क्या अंतर है ?

उत्तर—मिथ्याज्ञान संसार का कारण है, सम्यग्ज्ञान मोक्ष का कारण है। अनादि से जीव के मिथ्याज्ञान है। जो जीव यथार्थ प्रतीति करता है, उसे सम्यग्ज्ञान होकर अल्प काल में मोक्ष हो जाता है। मिथ्याज्ञानी जीव सदा यों मानता है कि 'पुण्य से धर्म होता है और शरीरादि का मैं कर सकता हूँ' किन्तु सम्यग्ज्ञानी ऐसा कदापि नहीं मानता कि 'पुण्य से धर्म होता है अथवा मैं शरीरादि की क्रिया कर सकता हूँ, यही मिथ्यात्व और सम्यग्ज्ञान के बीच में आकाश-पाताल जितना महान अंतर है।

(७२) प्रश्न—जिसके सुचारित्र अथवा कुचारित्र हो, उसके गृहीत मिथ्यात्व होता है या नहीं ?

उत्तर—जिसके सुचारित्र होता है, उसके तो मिथ्यात्व होता ही नहीं है और जिसके कुचारित्र होता है, उसमें किसी के गृहीत मिथ्यात्व होता है और किसी के नहीं भी होता।

(७३) प्रश्न—गृहीत मिथ्यात्व के छूटने से सम्यग्दर्शन हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—नहीं; सिर्फ गृहीत मिथ्यात्व के छूटने से ही सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, पहले गृहीत मिथ्यात्व को छोड़कर यदि आत्मा की यथार्थ प्रतीति करे तो अवश्य सम्यग्दर्शन होता है। गृहीत मिथ्यात्व को छोड़कर भी यदि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की ओर ही लग जाय किन्तु अपने आत्मा की यथार्थ प्रतीति न करे तो उसे न तो यथार्थ सम्यग्दर्शन ही होता है और न अगृहीत मिथ्यात्व दूर हो सकता है। जो गृहीत और अगृहीत दोनों मिथ्यात्वों को दूर करता है, उसी के सम्यग्दर्शन होता है।

(७४) प्रश्न—पहले गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है या अगृहीत ?

उत्तर—पहले गृहीत मिथ्यात्व दूर किये बिना कभी भी अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। किसी के गृहीत और अगृहीत दोनों साथ भी दूर हो जाते हैं परन्तु अगृहीत दूर हो जाय और गृहीत दूर न हो-ऐसा तो कदापि नहीं हो सकता। जिसके गृहीत मिथ्यात्व होता है, उसके अगृहीत मिथ्यात्व भी अवश्य होता है।

(७५) **प्रश्न**—एक जीव कोमल वस्तु के द्वारा जीव को बचाने का प्रयत्न करता है और मानता है कि मुझे इस क्रिया से धर्म होता है, उसी समय दूसरा जीव लड़ाई लड़ता है और उसे आत्मा की पहिचान है कि पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है तो इन दो जीवों में से उस समय किस के अधिक पाप लगता होगा ?

उत्तर—जो जीव कोमल वस्तु द्वारा जीव बचाने की क्रिया से धर्म मानता है, उस जीव के अधिक पाप है क्योंकि कोमल वस्तु की क्रिया तो जड़ की क्रिया है और जड़ की क्रिया का अपने को कर्ता मानता है; इसलिये उसे उस समय मिथ्यात्व के महापाप का बंध होता है। मैं पर की क्रिया का कर्ता नहीं हूँ और पुण्य-पाप से मुझे धर्म नहीं है, इस प्रकार समझनेवाले ज्ञानी जीव के लड़ाई के समय भी मिथ्यात्व का महा पाप बंध कदापि नहीं होता। सच्ची श्रद्धा होने के कारण लड़ाई के समय भी उसे आत्मभान (प्रतीति) रहती है और अज्ञानी के यथार्थ श्रद्धा नहीं होने से जीव बचाने के समय भी वह संसार को ही बढ़ा रहा है। यथार्थ प्रतीति के बिना आत्मा के अन्य किसी भी तरह लाभ नहीं होता और आत्मा की अनसमझ के बराबर हानि आत्मा के अन्य किसी प्रकार नहीं होती।

(७६) **प्रश्न**—क्या इस वाक्य में कुछ भूल है कि 'यह शरीर, जीव को दु:खी करता है' ?

उत्तर—यह वाक्य मिथ्या है। वास्तव में शरीर, जीव को दु:खी करता नहीं है किन्तु शरीर के प्रति इस जीव का जो मोहभाव है, वही जीव को दु:खी करता है। जीव को सुख-दु:ख अपने ही भाव से होता है, किन्तु शरीर से सुख-दु:ख नहीं होता।

(७७) **प्रश्न**—राग-द्वेष अधिक हानि करता है या राग-द्वेष को अपना मानना हानि करता है ?

उत्तर—राग-द्वेष को अपना मानना ही सबसे अधिक हानि का कारण है। राग-द्वेष तो चारित्र का दोष है और राग-द्वेष को अपना मानना श्रद्धा का दोष है और श्रद्धा का दोष समस्त दोष का मूल है।

(७८) **प्रश्न**—यदि कोई जैन निर्ग्रंथ मुनि यों माने कि—'मैं अपने उपदेश से मैं दूसरे को धर्म प्राप्त करा सकता हूँ' तो वह मुनि सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि ? और अपने यह कैसे निश्चय किया ?

उत्तर—वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि मैं पर जीवों को समझा सकता हूँ, यह उसकी मिथ्या मान्यता है। एक जीव दूसरे जीव का कुछ कर नहीं सकता, तथापि वह पर का कर्तव्य मानता है इसलिये यह निश्चय होता है कि वह मिथ्यादृष्टि ही है।

सम्यग्दर्शन-धर्म

प्रश्न—आप हमेशा सम्यग्दर्शन ही की बात क्यों किया करते हैं ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का कारण है। ''सम्यग्दर्शन कहता है कि मुझे धारण करने के बाद तुम्हारी इच्छा होगी तो भी तुम से मलिनता नहीं रखी जा सकती है, मोक्ष गमन करना ही होगा'' मोक्ष की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन है, उसके बिना अन्य सब हवाईकिले की तरह कल्पना मात्र हैं। इसलिये सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन का प्राप्त करना ही कर्तव्य है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप जाने बिना दुनियां ने उसे घर-घर की साधारण वस्तु बना डाला है। बहुभाग वीतराग के मार्ग को ही भूल गया है। देह-मन-वाणी की क्रिया से रहित भगवान आत्मा स्वाभाविक गुण रत्नों की खान है, यदि उसके भीतर लक्ष दिया जाय तो गुण प्रगट हों। जहाँ हो वहाँ खोद जाय तभी तो निकलेगा! मिट्टी की खान को चाहे जितना खोदा जाय तो भी उसमें से अन्न नहीं निकल सकता; इसी प्रकार पुण्य-पाप के विकार की खान अनादि काल से खोद रहा है किन्तु वह तो राग है-विकार है, उस में से अविकारी धर्म प्रगट नहीं हो सकता। यदि मावा चाहिये हो तो अफीम वाले की दुकान पर नहीं पूछा जाता, किन्तु दूध अथवा मिठाई की दुकान पर पूछा जाता है। धर्म कहाँ मिलेगा, धर्म की दुकान कहाँ हैं यह खबर नहीं है। किसी स्थान में, वाणी में अथवा किसी ग्रंथ में धर्म नहीं है; धर्म तो आत्मा में है, अन्यत्र कहीं नहीं है। आत्मा ही स्वाभाविक गुणों का पिंड है किन्तु इस संबंध में कुछ ज्ञान न होने से बाहर से मान रखा है कि—दया करके अथवा पर जीव को बचा लेने से धर्म हो गया; किन्तु ऐसे दयादि के शुभभाव तो अनंत बार कर चुका है लेकिन आत्मा को नहीं पहचान पाया और आत्मा को पहचाने बिना धर्म प्राप्त नहीं हो सका।

(नियमसार पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से)

नय किसलिए ?

दो अपेक्षायें ठीक समझनी चाहिये, दो अपेक्षाओं को लेकर समस्त जैन शासन का कथन है। जैन शासन का अर्थ है वस्तु स्वभाव। वस्तु स्वभाव दो अपेक्षाओं के द्वारा समझाया जा सकता है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर देवाधिदेव सर्वज्ञ भगवान ने अपने पूर्ण ज्ञान में जैसा पूरा वस्तु स्वभाव जाना, वैसा ही वस्तु स्वभाव कहा है। सुननेवाले का ज्ञान अपूर्ण है किन्तु वस्तु स्वभाव पूर्ण है। अपूर्ण ज्ञान में पूर्ण वस्तु स्वभाव एक ही साथ नहीं आ सकता, इसलिये अपेक्षा के द्वारा वस्तु के

पहलुओं को मुख्य-गौण करके समझाया जाता है। यदि वस्तुस्वभाव में परिपूर्णता न हो तो मुख्य-गौण करके पूर्णता नहीं समझाई जाती। और यदि ज्ञान पूर्ण हो तो भी भेद करके नहीं समझाना पड़ता, क्योंकि पूर्ण ज्ञान में तो पूर्ण वस्तु (द्रव्य-पर्याय) का ज्ञान एक साथ होता है, किन्तु ज्ञान अपूर्ण हैं अर्थात् वह द्रव्य-पर्याय स्वरूप पूर्ण वस्तु को एक ही साथ लक्ष में नहीं ले सकता, इसलिये (नय के द्वारा) मुख्य-गौण करके समझना पड़ता है।

निश्चयनय और व्यवहारनय

भगवान का उपदेश दो अपेक्षाओं से युक्त है, भगवान का उपदेश एकांत नहीं होता। निश्चय दृष्टि का विषय अखंड है, उसके विषय में व्यवहार अथवा व्यवहार के विषय रूप खंड, भेद, अवस्थादि नहीं आते। व्यवहार और उसका विषय अभावरूप नहीं है, हाँ, वर्तमान मात्र के लिये है अवश्य। व्यवहार की दृष्टि को ही मिथ्यादृष्टि-विपरीत दृष्टि कहा है क्योंकि व्यवहारनय एक वर्तमान अंश को ही लक्ष में लेता है और समस्त त्रैकालिक पदार्थ को लक्ष में नहीं लेता। जो समस्त त्रैकालिक द्रव्य को प्रतीति में न ले, वह दृष्टि सच्ची नहीं है; इसलिये निश्चयदृष्टि को मुख्य करके अखंड त्रैकालिक पदार्थ को लक्ष में लेना ही सम्यग्दर्शन हैं।

यहाँ पहले नयों का स्वरूप बतलाकर, पश्चात् उसके लक्ष को छुड़ाकर अखंड वस्तु की ओर प्रौढ़ विवेक के द्वारा लक्ष कराते हैं। अखंड वस्तु को लक्ष में लेना सो 'प्रौढ़ विवेक' है किन्तु जिसकी पर्याय पर ही दृष्टि है, वह व्यवहार मूढ़ अर्थात् अविवेकी है। प्रौढ़ विवेक का अर्थ क्या है ? निश्चय-व्यवहार दोनों नयों को जानकर, जो निश्चय के अखंड विषय की ओर ढ़लता है, वह प्रौढ़ विवेकी है। ज्ञान में दोनों नयों को स्वीकार करके निश्चय में आरूढ़ है। व्यवहारनय है, उसे न माने तो विवेक नहीं कहलायगा, और यदि व्यवहार में ही लग गया तो भी वह निश्चयनय में अनारूढ़ रहता हुआ अविवेकी है। जो नयों का ज्ञान कराता है, वह भेद का लक्ष रखने के लिये नहीं किन्तु भेदरहित अभेद स्वरूप है, उसको लक्ष करने के लिये कहा जाता है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—जगत में सब से बड़ा पाप कौन सा है ?

उत्तर—मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा पाप है।

प्रश्न—सबसे बड़ा पुण्य कौन सा है ?

उत्तर—तीर्थंकर नामकर्म सब से बड़ा पुण्य है। यह पुण्य, सम्यग्दर्शन के बाद की भूमिका में ही शुभराग के द्वारा बँधता है। मिथ्यादृष्टि को यह पुण्य-लाभ नहीं होता।

प्रश्न—सर्वप्रथम धर्म कौन सा है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन ही सर्वप्रथम धर्म है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान-चारित्र-तप इत्यादि कोई भी धर्म सच्चा नहीं होता। यह सब धर्म सम्यग्दर्शन होने के बाद ही होते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन ही सर्वधर्म का मूल है।

प्रश्न—मिथ्यात्व को सब से बड़ा पाप क्यों कहा है ?

उत्तर—मिथ्यात्व का अर्थ है विपरीत मान्यता; अयथार्थ समझ। जो यह मानता है कि जीव पर का कुछ कर सकता है और पुण्य से धर्म होता है, उसकी उस विपरीत मान्यता में प्रतिक्षण अनंत पाप आते हैं। वह कैसे ? सो कहते हैं:—

जो यह मानता है कि 'पुण्य से धर्म होता है और जीव दूसरे का कुछ कर सकता है' वह यह मानता कि 'पुण्य से धर्म नहीं होता और जीव पर का कुछ नहीं कर सकता-ऐसा कहनेवाले झूठे हैं' और इसलिये 'पुण्य से धर्म नहीं होता और जीव पर का कुछ नहीं कर सकता' ऐसा कहनेवाले त्रिकाल के अनंत तीर्थंकर केवली भगवान, संत-मुनि और सम्यग्ज्ञानी जीवों को-इन सब को उसने एक क्षणभर में झूठा माना है। इस प्रकार मिथ्यात्व के एक समय के विपरीत वीर्य में अनंत सत् के निषेध का महापाप है।

और फिर मिथ्यादृष्टि जीव के अभिप्राय में यह भी होता है कि—जैसे मैं (जीव) पर का कता हूँ और पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, उसी प्रकार जगत् के सभी जीव सदा काल परवस्तु के और पुण्य-पापरूप विकार के कर्ता हैं। इस प्रकार विपरीत मान्यता से उसने जगत के सभी जीवों को पर का कर्ता और विकार का स्वामी बना डाला; अर्थात् उसने अपनी विपरीत मान्यता के द्वारा सभी जीवों के शुद्ध अविकार स्वरूप की हत्या कर डाली। यह महा विपरीत दृष्टि का सबसे बड़ा पाप है। त्रैकालिक सत् का क्षण भर के लिये भी अनादर होना, सो ही बहुत बड़ा पाप है।

मिथ्यात्वी जीव मानता है कि एक जीव दूसरे जीव का कुछ कर सकता है अर्थात् दूसरे जीव मेरा कार्य कर सकते हैं और मैं दूसरे जीवों का कार्य कर सकता हूँ। इस मान्यता का अर्थ यह हुआ कि जगत् के सभी जीव परमुखापेक्षी हैं और पराधीन हैं। इस प्रकार उसने अपनी विपरीत मान्यता से जगत् के सभी जीवों के स्वाधीन स्वभाव की हिंसा की है, इसलिये मिथ्या मान्यता ही महान् हिंसक भाव है और यही सबसे बड़ा पाप है।

श्री परमात्म प्रकाश में कहा है कि—सम्यक्त्वसहित नरकवास भी अच्छा है और मिथ्यात्वसहित स्वर्गवास भी बुरा है। इससे निश्चय हुआ है कि जिस भाव से नरक मिलता है, उस अशुभभाव से भी मिथ्यात्व का पाप बहुत बड़ा है; यह समझकर जीवों को सर्व प्रथम यथार्थ समझ के द्वारा मिथ्यात्व के महापाप को दूर करने का उपाय करना चाहिये।

प्रश्न—ज्ञानी बारंबार समझाते हैं कि आत्मा दूसरे का कुछ नहीं कर सकता; यह सच है, परंतु इसे समझने के बाद भी करना क्या है ?

उत्तर—मैं दूसरे का कुछ कर नहीं सकता, यह यथार्थ समझने से ही 'अब क्या करना चाहिये' यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि मैं किसी दूसरे का कुछ नहीं कर सकता, यह समझ लेने के बाद अपने में ही करना शेष रह जाता है; अपने में जो राग होता है, उसे स्वभाव की एकाग्रता के द्वारा दूर करने की क्रिया (स्थिरतारूप क्रिया अर्थात् सम्यक् चारित्र) करना ही रह जाता है।

प्रश्न—चैतन्य की पहचान के द्वारा सम्यग्दर्शन होने के बाद क्या करना चाहिये ?

उत्तर—चैतन्य का ग्रहण और बंधभाव का त्याग करना चाहिये। बीच में जो व्यवहार-विकल्प इत्यादि आ जायें, उन्हें बंधनभावरूप जानकर छोड़ देना चाहिये।

पहले अज्ञानदशा में भी दूसरे का तो कुछ कर ही नहीं सकता था; मात्र दूसरे की चिंता किया करता था। प्रस्तुत प्रतिकूल वस्तु को बदलने की चिंता करने से कहीं वह वस्तु बदल नहीं जाती। धर्म पुस्तकों को लेने अथवा रखने की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। पहले अज्ञान से मात्र राग-द्वेष करता था और अब समझ होने पर ज्ञान ही करना रहा। ज्ञान करते-करते राग-द्वेष दूर होकर मुक्ति हो जाती है। अज्ञानी जीव प्रतिक्षण राग-द्वेष करके संसार को बढ़ाता है। सच्ची समझ होने पर जीव क्षण-क्षण में मुक्ति करता है अर्थात् समझने के बाद मोक्ष की क्रिया ही करनी रह जाती है और विकार की क्रिया छोड़नी होती है। जड़ की क्रिया को तो कोई आत्मा कर ही नहीं सकता-मात्र उसे जान सकता है।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.२१-५-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड